प्रकाशक—
जीतमल लूणिया, मन्त्री
सस्ता-साहित्य-प्रकाशक मण्डल, अजमेर

हिन्दी प्रेमियों से अनुरोध

इस सस्ता-मंडल की पुस्तकों का विषय, उनका पृष्ठ-संख्या और मूल्य पर जरा विचार कीजिये। कितनी उत्तम और साथ ही कितनी सस्ती हैं। मण्डल से निकली हुई पुस्तकों के नाम तथा स्थायी ग्राहक होने के नियम, पुस्तक के अंत मे दिये हुए हैं, इन्हें एक वार आप अवश्य पढ़ लीजिये।

* ग्राहक नम्बर—

* यदि आप इस मंडल के ग्राहक हैं तो अपना नम्बर यहाँ लिख रखिये, ताकि आपको याद रहे। पत्र देते समय यह नंबर जरूर लिखा करें।

मुद्रक—
गणपति कृष्ण गुर्जर,
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, काशी।

भूमिका

साबरमती के सत्याग्रहाश्रम से सम्बन्ध रखने वाले सभी लोग काका कालेलकर को भली भाँति जानते हैं। गुजराती लोग भी उन्हे उनके लेखो द्वारा जानते हैं। दाक्षिणात्य तो वह हैं ही। पर हिन्दी-भाषी जन साधारण को उनका परिचय नही है। उनके लेखो का संग्रह इस रूप मे छापने की कल्पना स्तुत्य है। क्योंकि इसीके द्वारा उनका परिचय हिन्दी-संसार को होगा। इन निबन्धो के पढ़ने से ही उनके विचार और विद्वत्ता की गहराई का पता चलता है। "जीवित इतिहास" शीर्षक का पहला लेख पीछे आने वाले निबन्धो की एक प्रकार से भूमिका है। हमारी सभ्यता, संस्कृति और आचारों पर उन्होने नयी रोशनी डाली है। उन त्योहारो पर, जिन्हे हम निरे गँवारो को भुलाने के लिए ढकोसला मात्र समझ बैठते हैं, समालोचनात्मक तत्व दृष्टि डालकर कालेल-कर महोदय ने आधुनिक शिक्षा प्राप्त भारतीयो के लिए एक नया दृष्टि-कोण बतला दिया है। इन निबन्धो के प्रत्येक पृष्ठ मे मौलि-कता झलकती है और हिन्दी-भाषियो को काका कालेलकर के मौलिक विचारो के जानने का सुअवसर देकर सस्ता-साहित्य-प्रकाशक मण्डल ने हम पर बड़ा एहसान किया है। मेरी आशा और विश्वास है कि इस ग्रन्थ से हिन्दी-भाषी बहुत लाभ उठावेंगे।

राजेन्द्रप्रसाद

विचार-कलिका

मेरा कुटुम्ब विशाल है। मै अपने अकेले ही के सुख से सुखी कैसे रहूँ ? सब सुखी हो तब मुझे भी सुखी होना चाहिए। जब तक संसार मे एक भी प्राणी सुख से रहित है तब तक मेरे प्रयत्न शिथिल नही होंगे।

✿ ✿ ✿ ✿

पहले हृदय का जीर्णोद्धार करो। समाज का, धर्म का, और संस्कृति का जीर्णोद्धार इसी के द्वारा अपने आप हो जायगा।

✿ ✿ ✿ ✿

जैसे अपचन से मुख मे दुर्गन्धि हो जाती है, उसी तरह सामाजिक अन्याय के कारण अपने सभी व्यवहारो मे कुरूपता फूट-फूट कर निकलती हुई दीखती है।

✿ ✿ ✿ ✿

सच्ची दरिद्रता कौन सी है ? वह जब कि पास मे विपुल धन होने पर भी उसका सदुपयोग किस तरह किया जाय, यह न सूझता हो।

काका कालेलकर

प्रकाशक के दो शब्द

सत्याग्रहाश्रम साबरमती के काका कालेलकर का यह लेख संग्रह—जीवन-साहित्य—हमे विश्वास है, हिन्दी-भाषियो को एक नई चीज़ मालूम होगी। काका साहब न केवल मौलिक विचारक और उच्च कोटि के लेखक हैं; बल्कि प्रथम श्रेणी के शिक्षा-शास्त्री, साहित्य-कला-मर्मज्ञ और धर्म-तत्व-चिन्तक है। दाक्षिणात्य होते हुए भी गुजरात मे उनका नाम 'विचारों के ज्वालामुखी' पड़ गया है। काका के लेखो और विचारो ने, तरुण गुजरात के विचार और आचार पर असर किया है। काका साबरमती आश्रम के राष्ट्रीय विद्या-मन्दिर के आचार्य, राष्ट्रीय गुजरात-विद्यापीठ के कुलनायक (वाइस चान्सलर) और महात्माजी के जेल जाने के बाद 'नवजीवन' के संपादक रहे हैं। उनके दिव्य विचारो तथा सरल, सरस तथा कलापूर्ण लेखन-शैली, हिन्दी-पाठकों को भी मुग्ध किये बिना न रहेगी। इस 'जीवन-साहित्य' के द्वारा पाठको को जीवन और साहित्य, दोनों का एवं जीवनदायी साहित्य का स्थायी लाभ मिलेगा—ऐसी हमारी दृढ़ धारणा है।

इस उच्च पुस्तक की भूमिका लिखने का अधिकारी एक ऊँची आत्मा ही हो सकता है। हमे हर्ष है कि श्रीमान् बाबू राजेन्द्र प्रसादजी ने समयाभाव होने पर भी इसकी भूमिका लिख देने की कृपा की है। इसके लिये हम आपके बड़े कृतज्ञ है।

जीवन-साहित्य का दूसरा भाग भी हम शीघ्र ही पाठकों को अर्पण करने का प्रयत्न करेंगे।

प्रकाशक

लागत का ब्योरा

कागज़	...	...	...	२९५) रु०
छपाई	...	...	...	२६०) "
बाइंडिंग	...	...	...	४५) "
लिखाई, व्यवस्था, विज्ञापन आदि खर्च,				३४०) "
				९४०) रु०

कुल प्रतियाँ २५००

लागत मूल्य प्रति संख्या ।=)

आदर्श पुस्तक-भण्डार

हमारे यहाँ दूसरे प्रकाशकों की उत्तम, उपयोगी और चुनी हुई हिन्दी पुस्तके भी मिलती हैं। गन्दे और चरित्र नाशक उपन्यास नाटक आदि पुस्तकें हम नहीं वेचते। हिन्दी पुस्तकें मँगाने की जव आपको ज़रूरत हो तो इस मण्डल के नाम ही आर्डर भेजने के लिये हम आपसे अनुरोध करते हैं। क्योंकि वाहरी पुस्तके भेजने मे यदि हमे व्यवस्था का खर्च निकाल कर कुछ भी वचत रही तो वह मण्डल की पुस्तके और भी सस्ती करने मे लगाई जायगी।

पताः—सस्ता साहित्य-मंडल, अजमेर

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ

जीवन-साहित्य

काका कालेलकर

विचार-कलिका

अपने आस पास सच्चे मित्रो को इकट्ठे करें, खुशामदी और अन्ध भक्तो को कदापि स्थान न दें ।

❀ ❀ ❀ ❀

समाज का मूलाधार सन्तोष-समाधान है, ईष्या द्वेष नहीं; मत्सर के मानी हैं प्रेम की मृत्यु ईर्ष्या-द्वेष के मानी हैं समाज का नाश ।

❀ ❀ ❀ ❀

हिल मिलकर काम करने मे जो प्रतिस्पर्धा रहती है वह आनन्दप्रद और प्रोत्साहक होती है। परस्पर एक दूसरे के विरोधी काम करने मे जो प्रतिस्पर्धा होती है वह हीनता उत्पन्न करती है ।

❀ ❀ ❀ ❀

दान से त्याग का महत्व विशेष है। हम दान करके ग़रीबो का कष्ट घटाते हैं, परन्तु सम्पत्ति का त्याग करके हम ग़रीबो की ग़रीबी ही मिटा देते है। बहुत बार दान से हम सामाजिक पाप का प्रायश्चित करते हैं, परन्तु त्याग से तो पापो ही को छोड़ देते हैं।

❀ ❀ ❀ ❀

काका कालेलकर

जीवन-साहित्य

जीवित इतिहास

हिन्दुस्थान का इतिहास हिन्दुस्थानी लोगो द्वारा नही लिखा गया है—इस बात का हम कितना ही विरोध करे, तो भी यह नही सिद्ध होता कि प्राचीन समय का हमारा इतिहास लिखा गया है। रामायण और महाभारत इतिहास नही कहे जा सकते। आधुनिक दृष्टि से वे इतिहास हैं ही नही। हॉ, रामायण और महाभारत मे तथा पुराणो मे भी इतिहास तो हैं, किन्तु वह सब धर्म का निश्चय करने के लिए दृष्टान्त-रूप हैं। महावंश और दीपवंश इतिहास माने जा सकते है, पर वे सीलोन के है, और उनमे इतिहास बहुत थोड़ा आया है। काश्मीर की राजतरङ्गिणी के विषय मे भी ऐसा ही कहा जा सकता है। तो फिर प्रश्न उठता है हमारा इतिहास क्यो नही है ? जीवन के किसी भी अङ्ग को लीजिए, उसमे असाधारण प्रवीणता हमने सम्पादन की है, फिर भी हमारे यहॉ इतिहास क्यो नही है ?

इतिहास का अर्थ है मनुष्य जाति के सम्मुख उपस्थित हुए प्रश्नो का उल्लेखन। इनमे कितने ही प्रश्न निर्णीत हो चुके है

और कितने ही अभी तक अनिश्चित है। जिन प्रश्नों का निश्चय हो सका है, वे अब प्रश्न नही रहे, उनका निराकरण तो हो चुका है और वे सामाजिक जीवन मे सस्कार-रूप से प्रविष्ठ हो गये है। जिस प्रकार से अन्न पाचन हुआ कि उसका रक्त बन जाता है, उसी प्रकार वे प्रश्न राष्ट्रीय मान्यता अथवा संस्कारो मे परिणत हो गये है। खाना हजम हो जाने पर मनुष्य इस बात का विचार नही करता कि मैने कल क्या खाया था, ठीक इसी तरह जिन प्रश्नो का उत्तर मिल गया है, उनके विषय मे वह उदासीन रहता है।

अब विचारणीय है अनिर्णीत प्रश्नो का विषय। हम लोग परमार्थी है। अतएव हम अनिश्चित प्रश्नो को कागज पर लिख रखना नही चाहते। अनिश्चित प्रश्नो मे मतभेद होता है। जितने मतभेद होते है, उतने ही सम्प्रदाय हम खड़े करते है। वेदो के उच्चारण मे मतभेद हुआ तो हमने भिन्न भिन्न शाखाये खड़ी कर दी। ज्योतिष मे मतभेद हुआ तो स्मार्त और भागवत एकादशी जुदी जुदी मानी। दर्शनशास्त्र मे तत्वभेद मालूम हुआ तो द्वैत और अद्वैतवाद के मार्ग हमने उत्पन्न किये। आहार और उद्योगो मे भेद हुआ तो हमने भिन्न भिन्न जातियॉ बना ली। जहॉ सामाजिक रीतियो मे मतभेद हुआ, वहॉ हमने उपजातियॉ खड़ी कर दी। यदि मनुष्य भूल से किसी रीति को तोड़ दे, या बड़े से बड़ा पाप करे तो उसके लिए प्रायश्चित्त का विधान है, उतने ही के लिए नई जाति नही खड़ी की जाती। हम लोग त्योहारो के द्वारा महान् ऐतिहासिक और राष्ट्रीय महत्त्व की घटनाओ के इतिहास को जागृत रखते है। इसी तरह हर एक सामाजिक हलचल के इतिहास को, उस हलचल के केन्द्र को

तीर्थरूप देकर हम लोगो ने जीवित रक्खा है। इस तरह, इतिहास लिखने की अपेक्षा इतिहास को जीवित रखना, अर्थात् जीवन मे उसे चरितार्थ कर दिखाना, हमारे समाज की खूबी है। चीथड़ो के बने कागजो के ऊपर इतिहास लिखना अच्छा, या जीवन ही मे इतिहास का संग्रह रखना अच्छा ? इन दोनो मे कौनसा रास्ता अधिक सुधरा हुआ है, यह कहना क्या कठिन है ? जब तक हमारी परम्परा टूटी नहीं थी तब तक हमारा इतिहास हमारे जीवन मे जीवित था। अभी भी यदि लोगो के रीति-रिवाज, उनकी मान्यताये, जाति-संगठन, तथा त्योहारों की खोज की जाय तो बहुतसा इतिहास मिल सकता है। हॉ, वह बहुतांश मे राजकीय न होगा, राजनैतिक न होगा, वरन् सामाजिक और राष्ट्रीय होगा। क्या इतिहासो के संशोधक लोग इस दिशा मे परिश्रम न करेंगे ?

जन्माष्टमी

सूर्य प्रतिदिन उदय होता है, तथापि प्रतिदिन वह नवीन प्राण, नूतन चैतन्य, और अभिनव जीवन ले आता है। सूर्य को पुराना ही समझ कर पक्षिगण उत्साह-शून्य नहीं होते। कल ही का यह सूर्य आज फिर आया है, यह कह कर द्विजगण भगवान् भास्कर का निरादर नहीं करते। जिस मनुष्य का जीवन शुष्क हो गया है, जिसकी आँखो का तेज चला गया है, जिसके हृदय मे रक्त-सञ्चार बन्द हो गया है, उसी के लिये सूर्य पुराना है। जिसमे प्राणो का कुछ भी अंश है उसके लिये तो भगवान सूर्य-नारायण नित्य नूतन है। जन्माष्टमी भी प्रतिवर्ष आती है, प्रति-वर्ष हम वही कथा सुनते हैं, ठीक उसी तरह उपवास भी करते हैं और उसी तरह श्रीकृष्ण-जन्मोत्सव करते है। इसी क्रम के अनु-सार हजारो वर्ष बीत जाने पर भीजन्माष्टमी हर साल हमे उस जगद्-गुरु का एक नया ही सन्देश सुनाती रहती है। कृष्ण-पक्ष की अष्टमी के वक्र चन्द्र के समान एक पैर पर भार रख कर एक पैर टेढ़ा रक्खे और देह मे कमनीय बॉक रख कर श्री मुरलीधर ने जिस दिन संसार मे प्रथम वार प्राण फूॅका, उस दिन से आज तक हरएक निराश्रित मनुष्य को आश्वासन मिला कि—

'न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गति तात गच्छति।'

हे तात! जिस मनुष्य ने सन्मार्ग ग्रहण किया है जो धर्म पर दृढ़ है, उसकी कभी दुर्गति नही होती।

लोग समझते हैं कि धर्म दुर्बल मनुष्यो के लिये है, अधिक से अधिक व्यक्तिगत सम्बन्ध मे उसकी उपयोगिता होगी; परन्तु राजा और सम्राट् तो जो करे, वही धर्म है। साम्राज्य-शक्ति धर्म से परे है। व्यक्ति का पुण्य-क्षय हो जाता होगा, किन्तु साम्राज्य तो अलौकिक वस्तु है। साम्राज्य की विभूति ईश्वरीय विभूति से बढ़ कर श्रेष्ठ है। जब साम्राज्य अपने हाथ मे विजय-पताका लेकर घूमता है, तब दिन के चन्द्रमा की तरह ईश्वर भी न जाने कहाँ छुप जाता है।

मथुरा मे कंस की ऐसी ही भावना थी; मगध देश मे जरासन्ध भी ऐसा ही समझता था; चेदि देश मे शिशुपाल की मनोदशा भी यही थी; जलाशय का निवासी कालियानाग की मान्यता भी यही थी; द्वारकापुरी पर धावा करने वाले कालयवन का भी यही जीवन-सिद्धान्त था; महापापी नरकासुर को यही शिक्षा मिली थी और दिल्ली के सम्राट् कौरवाधिपति भी इसी वृत्ति मे छोटे से बड़ा हुआ था। ये सभी महा पराक्रमी राजागण अन्धे या अज्ञानी न थे। इनके दरबारो में इतिहासवेत्ता, अर्थ-शास्त्र-विशारद और राज-कार्य-धुरन्धर अनेक विद्वान् थे। वे अपने अपने शास्त्रों का निचोड़ निकाल निकाल कर अपने अपने सम्राटो को सुनाते थे। परंतु जरासन्ध कहता था कि, 'तुम लोगो के इतिहास के सिद्धान्तो को रक्खे रहने दो, मेरा पुरुषार्थ इसी बात मे है कि मै अपने बुद्धि-बल और भुज-बल के द्वारा तुम्हारे सिद्धान्तो को झूठा कर दूँ।' कालयवन कहता—कि 'मै एक ही अर्थ-शास्त्र जानता हूँ—दूसरे देशो को निचोड़ कर उनका धन हरण कर लेना। धनवान् होने का यही एक मात्र सीधा, सहल—अतएव

सशास्त्र मार्ग है।' शिशुपाल कहता कि, 'न्याय और अन्याय की बात तो प्रजाजनो के भीतरी झगड़ो मे हो सकती है, हम तो ठहरे सम्राट्, हमारी जाति ही भिन्न, प्रतिष्ठा और वैभव यही हमारा धर्म है।' कौरवनाथ कहते थे कि 'ससार मे जितने रत्न है, वे सब हमारी पैतृक सम्पत्ति है, वे सब हमे ही मिलने चाहिए 'यतो रत्नभुजो वयम्' (क्योकि हम रत्न-भोगी हैं, रत्नोपभोग करने ही के लिये उत्पन्न हुये है)। ससार भर मे जितने तालाव हैं, वे सब हमारे ही विहार के लिये है। हम युद्ध किये विना किसी को इतनी भी भूमि न देगे, जितनी कि सुई की नोक के बरावर हो।'

पक्षपात-शून्य नारद मुनि ने कंस को सावधान कर दिया था कि विदेशी शत्रु के मुकावले मे भले ही तेरी चली हो, किन्तु तेरे साम्राज्य के भीतर—अरे! तेरे घर के भीतर ही—तेरा शत्रु उत्पन्न होगा। तू ने जिस सगी वहन को आश्रित दासी के समान रख छोड़ा है, उसी के पुत्र के हाथ से तेरा नाश होगा, क्योकि वह धर्मात्मा होगा। तू उसके तेजोभग के लिए जितने प्रयत्न करेगा, वे सभी उसके लिए अनुकूल हो जायँगे। कंस ने मन मे सोचा (Fore warned is fore armed) मुझे यथासमय इतनी चेतावनी मिल गई, अव यदि मै पानी फूटने के पहले ही पाल न बाँध लूँ तो मै इतिहासज्ञ ही क्या? सम्राट् ही कैसा? नारद ने कहा, 'यह तेरी विनाश-काल की विपरीत वुद्धि है। मै जो कुछ कह रहा हूँ, वह इतिहास का नही, धर्म का सिद्धान्त है, सनातन सत्य है। वसुदेव और देवकी के आठ सन्तानो मे से एक के हाथ से तू अवश्य मरेगा। तेरे लिए एक ही उपाय है। अव भी

पश्चात्ताप कर और श्रीहरि की शरण में जा।' मानो कंस ने तिरस्कारयुक्त हास्य के साथ उत्तर दिया कि, 'सम्राट् समर-भूमि में पराजित हुए बिना पश्चात्ताप नहीं करते।' 'तथास्तु' कह कर निराश हो नारद चले गये। कस ने सोचा, अब तक जो सम्राट् सफल न हुए, इसका कारण है उनकी असावधानता, उन्हे पूरी तरह सावधान रहने का ज्ञान न था। यदि मै भी गाफिल रहा तो मुझे भी पराजय स्वीकार करना पड़ेगा। पर इसका कुछ अन्देशा नहीं। वीर पुरुष तो सदा विजय के लिये प्रयत्न करता है, किन्तु पराजय के लिये तैयार रहता है। हार जाना बुरा नहीं, किन्तु धर्म के नाम पर वशीभूत हो जाने मे अकीर्ति है। धर्म का साम्राज्य साधु-सन्त, वैरागी और देव-ब्राह्मणो को मुबारक हो, मै तो ठहरा सम्राट्। मै तो एक शक्ति को ही पहचानता हूँ।

कंस ने क्रूर हो कर वसुदेव के सात निरपराध बालकों का वध किया। कृष्ण-जन्म के समय ईश्वरीय लीला चली और श्री-कृष्ण भगवान की जगह कन्या-देहधारी शक्ति कंस के हाथ लगी। उसे कंस ने जमीन पर पछाड़ा, परन्तु शक्ति से कहीं शक्ति थोड़ी ही मर सकती थी? वसुदेव ने श्रीकृष्ण को गुप्त रूप से गोकुल मे रक्खा, किन्तु ईश्वर को कोई वस्तु गुप्त रखना स्वीकार न था। ईश्वर को प्रसिद्ध हो जाने का कौन सा भय था (sin of secrecy) शक्ति ने अट्टहास कर के भौंचक कंस से कहा, 'तेरा शत्रु तो गोकुल मे दिन दूना और रात चौगुना बढ़ रहा है।' मथुरा से गोकुल वृन्दावन बहुत दूर नहीं है, चार पॉच कोस भी नहीं है। कंस ने श्रीकृष्ण को मार डालने के लिए जितने हो सके, प्रयत्न किये। किन्तु वह यह जान ही न सका कि श्रीकृष्ण का मरण

किस तरह है? श्रीकृष्ण अमर तो थे ही नही, साथही मरणाधीन भी न थे। वे धर्म-कृत्य करने को आये थे। जब तक धर्म का राज्य न हो जाय तब तक वे विराम कब पा सकते थे? कस ने सोचा कि श्रीकृष्ण को अपने दरबार मे बुलवा लूँ और वहीं उनका वध करवा डालूँ, किन्तु उसकी बाजी वहीं बिगड़ी, क्योकि, प्रजा ने परमात्म-तत्व को पहचाना और वह परमात्मा के अनुकूल हो गई।

कस का नाश देख कर जरासन्ध को सचेत हो जाना चाहिए था, किन्तु उसने सोचा कि, नहीं, मै कंस से बढ़ कर सावधान हूँ; मैने अनेक भिन्न भिन्न अवयव जोड़ कर अपने साम्राज्य को प्रबल किया है, मल्लयुद्ध मे मेरा समकक्ष कौन है? मेरे नगर का कोट दुर्भेद्य है, मुझे किस बात का डर? जरासन्ध की भी दो फॉक हुई। कालियनाग तो अपने जल-स्थान को सुरक्षितता का नमूना ही मानता था, उसका विष असह्य था। वह फूत्कार मात्र से बड़ी बड़ी सेनाओ का सहार कर देता था। उसके उस महा-विष की भी कुछ न चली। कालयवन ने चढाई अवश्य की किन्तु वह मुचकुन्द की क्रोधाग्नि से बीच मे ही जल कर भस्म हो गया। नरकासुर एक स्त्री के हाथ से भस्म हुआ, कौरवाधिपति दुर्योधन द्रौपदी की क्रोधाग्नि मे भस्म हुआ और शिशुपाल को उसकी की हुई भगवन्निन्दा ने ही मार डाला।

षड्रिपु जैसे छ सम्राट् उस समय मर गये, सप्तलोक और सप्त पाताल सुखी हुए और जन्माष्टमी सफल हुई। फिर भी हम हर बरस इसी समय इस उत्सव को क्यो मनाते है? इसलिये कि अब भी हमारे हृदय से षड्रिपु का नाश नहीं हुआ है, वे

हमे बहुत सताते है; हम लगभग निराश हो जाते है। ऐसे प्रसङ्ग मे हमारे हृदय मे कृष्णचन्द्र का जन्म होना चाहिए। 'जहाँ पाप है, वहाँ पाप पुञ्ज-हारी भी है' इस आश्वासन का उदय हमारे हृदय मे होना चाहिये। मध्यरात्र के घोर अन्धकार मे कृष्ण-चन्द्र का उदय हो, तभी निराश ससार आश्वासन पा सकता है और धर्म मे दृढ़ रह सकता है।

जन्माष्टमी का उत्सव

एक वृद्ध साधु के साथ देश की स्थिति के सम्बन्ध मे मेरी बातचीत हुई थी, मैने उस बातचीत मे राजनिष्ठा के बारे मे कुछ कहा। तुरन्त ही साधु बोल उठे 'अरे, हिन्दुस्थान मे तो दो ही राजा हुए है--एक मर्यादा-पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र और दूसरे जगद्गुरु श्रीकृष्ण। हिन्दुओ पर तो अब भी इन्ही दोनो का राज्य चलता है। राजनिष्ठा तो इन्हीं के प्रति सम्भव है। भूमि और द्रव्य के ऊपर राज्य करने वाले कोई और हो, किन्तु, हिन्दुओ के हृदयो पर राज्य करने वाले तो ये दो ही है।' मुझे यह बात बिलकुल सच मालूम हुई क्योकि, भजन समाप्त कर के 'राजा रामचन्द्र की जय' अथवा 'कृष्णचन्द्र की जय' बुलवा कर जब सभी लोग जयजयकार करते है, उस समय जो भक्ति का उफान उठता है, वैसी भक्ति दूसरे किसी के विषय मे उत्पन्न नहीं होती।

श्रीरामचन्द्रजी का जीवन जितना उदात्त है, उतना ही सुगम भी है। श्रीरामचन्द्र आर्यों के आदर्श पुरुष—पुरुषोत्तम—है। वे सामाजिक रीति-रिवाजो और नीति-नियमो का पालन सोलहो आना करते है, इतना ही नहीं, किन्तु वे तो लोक-भावना का इतना ख्याल करते है जो किसी भी प्रजा-सत्ताक राष्ट्र के राज्या-

व्यक्ति को भी लज्जित कर सकता है। श्रीरामचन्द्रजी मे यह दृढ़ निश्चय है कि, मेरा जीवन समाज के लिए है।

श्रीकृष्ण भी पुरुषोत्तम है, किन्तु वे है भिन्न युग के पुरुषोत्तम। जब सामाजिक सगठन आत्मोन्नति मे बाधक हो, तब उसे नष्ट कर के नये नियमो की सृष्टि करना यह प्रवृत्ति श्रीकृष्ण मे दीखती है। फिर भी श्रीकृष्ण अराजक न थे। वे लोकसंग्रह के महत्त्व को अच्छी तरह जानते थे। श्रीकृष्ण ने धर्म को एक नूतन स्वरूप दिया और उससे श्रीकृष्ण के जीवन का हर एक प्रसङ्ग रहस्य-पूर्ण है। जैसे कोई व्याकरणकार एक सर्वव्यापी नियम का निर्देश करने के बाद फिर उसके अपवादो को एक सूत्र मे ग्रथित करता है, इसी तरह श्रीकृष्ण ने मानो मानव-धर्म के सभी अपवाद अपने जीवन मे सूत्रबद्ध किये है। गोपियो के साथ शुद्ध, पवित्र परन्तु मर्यादा-रहित प्रेम, दुराचारी राजा कंस, मामा लगने पर भी, उसका वध, भक्त की प्रतिज्ञा सच्ची करने के लिये अपनी प्रतिज्ञा भङ्ग करके युद्ध मे शस्त्र-ग्रहण कर लेना इत्यादि सभी ऐसे प्रसग है जिनमे तत्त्व की रक्षा के लिए नियमो के भङ्ग करने के दृष्टान्त है। श्रीकृष्ण ने आर्य-जनता को अधिक अन्तर्मुख, अधिक आत्म-परायण किया है। भोग और त्याग, गृहस्थाश्रम और सन्यास, प्रवृत्ति और निवृत्ति, ज्ञान और कर्म, इहलोक और परलोक इत्यादि सभी द्वंद्वों का विरोध भ्यास-रूप है, सब मे एक ही तत्त्व निहित है; यह श्रीकृष्ण ने अपने जीवन और उपदेश से सिद्ध कर दिखलाया है। आर्य-जीवन पर अधिक से अधिक प्रभाव श्रीकृष्ण ही का पड़ा है फिर भी इस प्रभाव का स्वरूप कैसा है, यह निश्चित करना कठिन है। जैसे

अत्यन्त सरल भाषा मे लिखी गई श्रीमद्भगवद्गीता के अनेक अर्थ किये गये है, वैसे ही श्रीकृष्ण के जीवन का रहस्य भी विविध रीति से वर्णित किया गया है। जिस तरह वाल्मीकीय रामायण के रामचन्द्र और तुलसीकृत रामायण के रामचन्द्र मे महान् अन्तर है, उसी तरह महाभारत के श्रीकृष्ण, श्रीमद्-भागवत के श्रीकृष्ण, गीतगोविन्द के श्रीकृष्ण, चैतन्य महा-प्रभु के श्रीकृष्ण और तुकाराम बावा के श्रीकृष्ण, ये सभी एक होते हुए भी जुदा हैं। वर्त्तमान काल मे भी नवीनचन्द्रसेन का श्रीकृष्ण, वङ्किमचन्द्र के श्रीकृष्ण से भिन्न है, गाँधीजी का श्रीकृष्ण तिलक के श्रीकृष्ण से भिन्न है। और अरविन्दघोष का श्रीकृष्ण तो सभी से न्यारा है। ऐसे सुलभ और दुर्लभ, एक और अनेक, रसिक और विरागी, वाग्मी और लोकसंग्राहक, प्रेमी और निठुर, मायावी और सरल श्री कृष्णचन्द्र की जयन्ती किस तरह मनाई जाय, यह निश्चित करना महा कठिन है।

श्रीकृष्ण का चरित्र उनके जीवन के समान ही व्यापक है। श्री कृष्ण ने संसार की हर एक स्थिति को भोगा है, प्रत्येक स्थिति के लिए आदर्श दिखा दिया है। श्रीकृष्ण का बालपन अत्यन्त रम्य है। गाय और बछड़ो पर उनका प्रेम, वनमालाओ का शौक, मुरली का मोह, बालमित्रो पर स्नेह, मल्लविद्याविषयक अनुराग, ये सब अद्भुत और अनुकरणीय है। छोटे बच्चो को तो अवश्य ही उनका अनुकरण करना चाहिए। सुदामा के चरित्र को ध्यान मे लाकर जन्माष्टमी के दिन यदि हम अपने दूर-निवासी मित्रो को दो दिन साथ रहने के लिए श्रीकृष्ण के गुण-गान करके विहरने के लिए बुलावे, तो यह बहुत ही उचित होगा।

श्रीकृष्णजी के मन में बड़ा या छोटा, गरीब या अमीर, ज्ञानी या अज्ञानी, स्वरूपवान या कुरूप किसी तरह का भेद न था। जब श्रीकृष्ण गौओं को चराने जाते थे, तब अपने सब साथियो से कह देते थे कि, हर एक मनुष्य अपने अपने घर से अपने अपने भोजन की वस्तुये लेता आवे, फिर वे सभी हिल मिल कर सभी का भोजन एक मे मिलाकर प्रेमपूर्वक वन-भोजन करते थे। आज भी हम एक पाठशाला के विद्यार्थी, एक दफ्तर के काम करनेवाले, एक मील के मजदूर और एक क्लब के खिलाडी इकट्ठे होकर अपने अपने घर से खाने को लाकर शहर या देहात के बाहर किसी बावड़ी पर या नदी के तट पर, किसी वृक्ष के नीचे बाते करते और गाते हुए, खेलते या भजन करते हुए यदि दिन बितावे तो इसमे कोई बुराई नहीं है। अलबत्ते इस वन-भोजन में लड्डू, पकौड़ी, या चिहुरा-चवेना नहीं चल सकता। कृष्णाष्टमी के दिन का मुख्य आहार तो गोरस ही है। दूध, दही, मक्खन और कन्द, मूल, फल, बस, यही आहार उस दिन के लिए उचित है। जिस दिन धर्म-संशोधक जगद्गुरु का जन्म हुआ था, उस दिन लड़को को ऐसा सात्विक आहार करना चाहिए। बड़ो को व्रत रहना चाहिए। व्रत रखने की प्राचीन प्रणाली को छोड़ना न चाहिए। इसमे बड़ा गहरा रहस्य है। उपवास करने से चित्त अन्तर्मुख होता है, दृष्टि निर्मल होती है, और देह हलकी बनी रहती है। यदि बारम्बार व्रत रहने की आदत हो तो व्रत के दिन चित्त और भी अधिक प्रसन्न रहता है, बहुतेरो को इसका अनुभव है। व्रत से वासना शुद्ध होती है। यदि शरीर मे किसी तरह का दोष न हो तो व्रत करने से चित्त

एकाग्र होता है तथा धर्म-सम्बन्धी गंभीर से गंभीर तत्त्व स्पष्ट हो जाते हैं। व्रत के दिन यदि बुद्धि-योग हो तो धर्म-तत्त्व का चिन्तवन करना चाहिए। यदि उतनी शक्ति न हो तो श्रद्धालु मनुष्यो के साथ धर्म-चर्चा करनी चाहिए। यदि यह भी न बन पड़े तो गीता का पाठ, नाम-स्मरण और भजन-कीर्त्तन करना चाहिए। सात्त्विक सङ्गीत के साथ भजन करना चाहिए। जहाँ तक हो सके उपवास के दिन व्यवहार-सम्बन्धी कार्य बहुत कम कर देना चाहिए, परन्तु अवकाश के इस समय को आलस्य, निद्रा और व्यसन मे न गवाँना चाहिए। हमे कई बार उत्तमोत्तम धार्मिक वचन, भजन आदि मिल जाते है, किन्तु उन्हे लिख लेने को अवसर नही मिलता। यह दिन उनके लिखने मे लगादे तो बहुत ही अच्छा हो।

जिसे सार्वजनिक कार्य करने की शक्ति है, उसे श्रीगोपालजी के जन्म के दिन गोरक्षण-सम्बन्धी हलचल करनी चाहिए। इससे बढ़ कर और क्या बात हो सकती है? जितना दूध और घी श्रीकृष्ण के साथियो को मिलता था, उतना ही घी और दूध जब तक हमारे बच्चों को न मिलने लगे, तब तक यह नही गिना जा सकता कि हमने श्रीकृष्णजन्मोत्सव मनाया। श्रीकृष्ण अनुपम मल्ल थे, गृहस्थाश्रम मे रह कर वे ब्रह्मचर्य का पालन करते थे; श्रीकृष्ण दीर्घायु थे, इसलिए हरएक अखाड़े मे श्रीकृष्ण-जन्मोत्सव मनाया जाना चाहिए। और श्रीकृष्ण के जीवन का यह भूला हुआ विभाग फिर से स्मरण मे लाना चाहिए। जो अपना जीवन पाण्डित्य ही मे व्यतीत करना चाहते है, उनके लिये बढ़िया से बढिया काम यह हो सकता है कि, जैसे गीता मे श्रीकृष्ण ने

अर्जुन को उपदेश दिया है, उसी तरह भिन्न भिन्न प्रसङ्गो पर प्रतिपादन किये हुए श्रीकृष्ण के उद्गार महाभारत या भागवत मे से, विष्णुपुराण या हरिवंश मे से जितने मिल जायॅ सब इकट्ठे करे। उनके ऐसे उद्गारो की और कृष्ण-चरित के अनुसार गीता के अर्थ की सङ्गति लगानी चाहिए। इस तरह इन महान् जगद्-गुरु का जीवन-सिद्धान्त (Philosophy of life) क्या था, इनकी राजनीति कैसी थी, यह निश्चित करके उसे जन-साधारण के सम्मुख रखना चाहिए।

श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी का दिन स्त्रियॉ किस रीति से मनावे ? यह प्रश्न बहुत नाजुक है। नारद मुनि ने अपने भक्ति-सूत्र मे भक्ति के अतिरेक का स्वरूप बतलाया है। कितने ही कवियो ने उस पर से मनोवृत्ति को गोपी कल्पित करके परब्रह्म पर-पुरुप पर वे कितनी मोहित थी, इसका इतना अधिक वर्णन किया है कि जिससे श्री कृष्ण के जीवन का परिपूर्ण रहस्य जनता लगभग भूल गई है। श्रीकृष्ण को गोपी-जन-वल्लभ कहा है। श्रीकृष्ण और गोपियो का प्रेम कितना विशुद्ध और आध्यात्मिक बन गया था, इसकी कल्पना जिसके हृदय मे नही आ सकती, उन लोगो ने या तो कृष्ण को नीचे उतार दिया है, या प्रेम के वर्णन करनेवाले कवियो को तुच्छ-वृत्ति और असत्यवादी समझ लिया है। मै यह प्रतिपादन नही कर रहा हूॅ कि श्रीकृष्ण और गोपियों के प्रेम का वर्णन करने मे कवियो ने भूल नही की है। मै तो उल्टा, यही मानता हूॅ कि समाज की स्थिति को ध्यान मे रख कर उन कवियो को बड़ी सावधानी के साथ प्रेम का वर्णन करना चाहिए था। जब कट्टर मुसलमान राजा लोग इस्लाम के सूफी पन्थ के मस्त कवियो को

और फकीरों को सजा देते थे, तव वे कहते थे कि ये साधुजन जो कुछ कह रहे है, वह झूठ नहीं है, किन्तु अनधिकारी समाज मे रहस्यपूर्ण वस्तुये इस तरह रख कर वे समाज को हानि पहुँचाते है, इसी कारण वे दण्ड के पात्र हैं। केवल इसीलिए कि हम लोग गोपियो के प्रेम को नही समझ सकते, उस प्रेम को ऐसा स्वरूप दे देने की आवश्यकता नहीं है जो हमारी नीति सदाचार-सम्वन्धी वर्तमान धारणाओ के अनुकूल हो। गोपियों के प्रेम को तो मीरावाई ने स्पष्ट कर दिखाया है। जव जव धर्म पर से लोगों की श्रद्धा हट जाती है, तव तव उसको फिर से स्थिर कर देने के लिए मुक्त पुरुप इस विश्व मे अवतार धारण करते हैं। और अपने प्रत्यक्ष अनुभव और जीवन के द्वारा लोगो मे धर्म के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करते हैं। इसी तरह जव लोगो को गोपियो की शुद्ध भक्ति के विषय मे अश्रद्धा उत्पन्न हुई, तव गोपियो मे से एक ने—शायद राधाजी ने—मीरावाई का अवतार लेकर प्रेम-धर्म की सस्थापना की। यदि हम ईश्वर और भक्त दोनों के वीच के इस अनिर्वचनीय प्रेम सम्वन्ध को स्पष्ट कर सकें, तव तो गोपियों के प्रेम अथवा विरह के भजन गाने मे मैं कोई आपत्ति नहीं समझता। हम मीरावाई को किसी तरह त्याग नहीं सकते। क्या महज इसीलिए कि ज़माना खराव आ गया है, हम इस समय मीरावाई को भूल जायँ? श्रीकृष्ण के साथ केवल गोपियो का ही सम्वन्ध था, यह वात नहीं है। यशोदा वालकृष्ण का पूजन करती थीं। कुन्ती पार्थ-सारथी को पूजती थी। सुभद्रा और द्रौपदी श्रीकृष्ण को वधुरूप मे पूजती थीं। श्रीकृष्ण का सारा जीवन हमें अपनी स्त्रियो के सम्मुख रखना चाहिए। श्रीकृष्ण कितने

संयमी थे, कितने नीतिज्ञ थे, और कितने धर्मनिष्ठ थे, यह सब स्त्रियों के सम्मुख स्पष्ट करना चाहिए; और इसके बाद ही गोपिकाओं के प्रेम का आदर्श उनके सम्मुख रक्खा जा सकता है। प्रेम और मोह के बीच जो स्वर्ग और नरक के समान भेद है, उसे स्पष्ट कर दिखाना चाहिए। रासक्रीड़ा मे गोपियों के चित्त में मलिन कल्पना आते ही श्रीकृष्ण—असंख्य-रूप-धारी श्रीकृष्ण, एकाएक अदृश्य हो गये, फिर जब गोपियो का मन शुद्ध हो गया, तभी वे पुनः प्रकट हुए। यह सुन्दर प्रसंग पुराणों में वर्णित है, उसका रहस्य हर एक मनुष्य को जानना चाहिए। वह रहस्य किसी भी मनुष्य से छिपा रखने मे भलाई नहीं। अधूरे ज्ञान से उत्पन्न हुए दोषो को दूर करने का उपाय पूर्ण ज्ञान है, अज्ञान नहीं। हमें प्रेम को उसको शुद्ध मार्ग दिखाना चाहिए। प्रेम दबाने से दबता नहीं, वरन् दबाने की चेष्टा करते हुए वह विकृत हो जाता है।

हमें जन्माष्टमी के दिन सुदामा-चरित्र का कीर्तन करना चाहिए, श्रीकृष्ण का गोपियों को किया उपदेश गाना चाहिए। उद्धवजी के द्वारा श्रीकृष्ण ने गोपियो को जो सन्देश भेजा था, उसका मनन करना चाहिये। गीताजी का रहस्य समझना चाहिये, और उपवास कर के शुद्ध भाव से उस के रहस्य को समझना चाहिए।

यदि जन्माष्टमी के दिन हम गाय की पूजा करें तो इस में कुछ बुराई नहीं। गाय की पूजा करते हुए हम पशु को परमेश्वर नहीं मानते, वरन् उस पूजा के द्वारा प्रेम और कृतज्ञता प्रकट करते हैं। नदी की पूजा, तुलसी की पूजा और गो की पूजा आदि का रहस्य समझ कर यदि हम करेंगे तो उस से अन्तःकरण को बड़ी भारी

शिक्षा प्राप्त होगी। रस-वृत्ति विकसित होगी और मन पवित्र होगा। हर एक पूजा मे भाव एक सा नही रहता। पूजा कृतज्ञता से हो सकती है, वफादारी के कारण हो सकती है, प्रेम के बदौलत हो सकती है, आदर-बुद्धि से हो सकती है, भक्ति से हो सकती है, आत्मनिवेदन-वृत्ति से हो सकती है और स्वस्वरूपानुसन्धान से हो सकती है। इस दृष्टि से गो-पूजा करने मे एकेश्वर-वादी या निरीश्वरवादी को भी कोई बाधा न होनी चाहिए। क्या निरीश्वर-वादी आगस्टस् कान्ट, क्या मनुष्य जाति का पुतला बनाकर उसकी पूजा नही करता था? श्रावण मे गाये बहुत ब्याती है। घर की छोटी छोटी लड़कियाँ यदि कृतज्ञता पूर्वक गायो और इधर उधर कूदते-फाँदते छोटे छोटे बछड़ो की हरिद्रा और कुङ्कुम से पूजा करे तो कितनी प्रेम-वृत्ति जागृत हो! कन्या पाठशालाओं मे अनेक प्रकार से कृष्ण-जयन्ती मनाई जा सकती है। घर के भीतर जमीन को अच्छी तरह लीप कर सफेद पत्थर के चूर्ण या आटे से उस भूमि पर चौक पूरने की बाजी रक्खी जा सकती है। लड़कियाँ भजन गावें, रास खेले, श्रीकृष्ण के जीवन के भिन्न भिन्न प्रसङ्गो को गद्य या पद्य मे वर्णन करे। घरो से फलाहार पाठशाला मे लेजाकर सब मिलजुल कर खाये। यदि उस दिन शाला की लड़कियो को अपनी सखी-सहेलियो को भी लाने की इजाज़त मिल जाय तो और भी विशेष आनन्द आ सकता है तथा शिक्षा की ओर अधिक कन्याये आकर्षित हो सकती है। यदि धार्मिक शिक्षण को कुछ सफल बनाना है तो हर एक त्योहार के दिन पाठशाला को मन्दिर का स्वरूप दे देना चाहिए। यदि मूर्ति-पूजा से दूर न भागते हो तो जन्माष्टमी के दिन मदरसे मे पालना बाँध

कर हिंडोले गाये जायँ। इस कार्य मे कन्याओ की माताये भी अवश्य भाग लेंगी।

आज कन्या-पाठशालाये समाज का अङ्ग नहीं बनी हैं, समाज मे अभी कन्या-शालाओ ने जड़ नही जमाली है, इसीसे कन्या-शाला के सञ्चालक उत्साही देश-सेवको का आधे से अधिक परिश्रम निष्फल जाता है। यदि जन्माष्टमी जैसे त्योहारो को मनाने मे समाज की सभी स्त्रियाँ भाग लेने लगे तो देखते देखते शिक्षण सफल हो जायगा, शिक्षण का लाभ केवल मदरसे मे पढ़नेवाली कन्याओ को ही नही, वरन् सारे समाज को मिलेगा और हम जो शिक्षण का पवित्र कार्य करते है, उस पर कृष्ण परमात्मा की अमृत भरी दृष्टि की वृष्टि होगी।

भक्ति की दृष्टि

-----●●●●●-----

जन-समाज मे जिस दानी गृहस्थ की अधिक प्रतीष्ठा होती है, यदि वह संन्यास ग्रहण करके सर्वस्व का त्याग भी करे तो उसकी उतनी प्रतिष्ठा नही होती। संन्यासी समाज से बाहर चला गया। वह दूर से पूजनीय है, उसका अनुकरण नही किया जा सकता, इतना ही नही, वरन् उसके वचन भी श्रद्धास्पद नही गिने जा सकते। भला यह वृत्ति जन-समाज में क्यो होगी? जन-समाज स्वयं मोह का—दुर्बलता का—उपासक है। जन-समाज की इस दुर्बलता का कुछ भी अंश जिस मनुष्य मे हो, वही जन-समाज का आप्त पुरुष गिना जाता है। जैसे मनुष्य शुद्ध प्राण वायु को नही सह सकता, वैसे ही शुद्ध तत्व को भी जन-समाज हज़म नही कर सकता।

साधारण जन-समाज व्यवहार मे सदा धोखा खा जाता है। इसलिए लोकमत इस प्रकार का हो गया है कि शङ्का की दृष्टि ही सुरक्षित दृष्टि है। हम जितना विश्वास निन्दा पर कर लेते है, स्तुति पर उतना नही। उत्साही मनुष्य की अपेक्षा सावधान मनुष्य को हम अधिक चतुर समझते है। भक्त की अपेक्षा टीकाकार अधिक बड़ा पण्डित गिना जाता है। इसलिये समाज मे एक विचित्र दम्भ उत्पन्न हो गया है। यदि मनुष्य अपनी दुर्बलता को ढँकने का प्रयत्न करे और अपना ऐब प्रकट करने मे लज्जा करे,

तो यह बात समझ में आ सकती है, परन्तु उपर्युक्त लोक मत के कारण तो मनुष्य अपने ऊँचे से ऊँचे आदर्श, पवित्र से पवित्र निश्चय, और गहरे से गहरे अभिप्राय को भी प्रकट करने में लज्जित होता है। यह समाज की कृत्रिम दशा बहुत लोगों को असह्य हो गई है। धुएँ से भरी हुई हवा में श्वास लेना जितना कठिन होता है, उससे भी कहीं अधिक कठिन प्राकृतिक जीवन हो गया है।

गाँधी जी जब तक मिस्टर गाँधी थे तब तक उनकी गिनती चतुर मनुष्यों मे होती थी। जिस दिन, जिस दुर्दैवी क्षण में वे 'महात्मा' बने उसी दिन से वे सनकी हो गये। बुद्धिमान पुरुषो को अब सचेत हो जाना चाहिए। उनकी जो सलाह अभी तक बुद्धिमानी से भरी होती थी, वही अब खतरनाक हो गई है। समाज-महाराज की आज्ञा है—दूर ही से इनकी पूजा करो, उनके पास न जाओ, और नवयुवको! तुम लोग भी सावधान रहना, गाँधी जी के विषय मे तुम्हें जो कुछ कहना हो, दूरही से कहना, हम तुम्हे होशियार कहेंगे, उच्च आशय वाला कहेंगे, और समाज का नेता भी गिनेंगे। परन्तु यदि इन महात्माओ के अधिक नजदीक तुम जाओगे तो निश्चय पूर्वक जान लेना कि, जो निर्णय 'महात्मा' के सम्बन्ध में हमने दिया है, वही तुम्हारे लिए भी लिखा हुआ है। बल्कि तुम्हारी तो दूनी दुर्दशा होगी। हम तुम्हें बुद्धिमान पुरुषों की गिनती मे से तो निकाल देंगे और महात्माओ में तो तुम प्रविष्ट हो न सकोगे। अतएव तुम 'इतोभ्रष्टस्ततोभ्रष्टः' होकर मारे मारे फिरोगे।

समाज की यह आज्ञा मैं बहुत काल से सुनता आरहा हूँ और अब तक मै इस के अधीन भी बना रहा। जब तक मैं गाँधी जी

के सहवास मे नही आया था, जब तक मैंने अपना तुच्छ जीवन उस ऋषि के चरणो मे अर्पित नही किया था, तब तक मुझे गाँधी जी के सम्बन्ध मे बोलने का अधिकार था। समाज ने यह स्वीकार किया था कि, गाँधी जी के गुण और दोषो की चर्चा करने योग्य बुद्धि मुझ मे है। गाँधी जी के सम्बन्ध मे मेरा लिखा परिचय प्रकाशक लोग प्रकाशित करते और पाठक पढते भी थे। लेकिन मै भूला। समझदारी की मर्यादा को लाँघ कर मैं भक्त बन गया। मुझे मालूम होता है कि इसी दिन से मुझे दिव्य-दृष्टि मिली। परन्तु समाज तो कहता है कि, उसी क्षण तुम अन्धे हो गये। मैंने समाज के निर्णय को स्वीकार कर लिया और गाँधी जी विषयक प्रेमोद्गार अथवा अनुभव के वचन उच्चारण न करने का नियम किया। आज तक मैंने यथाशक्ति उस नियम का पालन किया है। पर अब मेरा पागलपन बढ़ गया है। समाज सरकार की आज्ञा मे मैं अब नही रहा। मै अब समाज के शासन को तोड़ने के लिए उद्यत हूँ। मै नही जानता कि यह कानून-भङ्ग सविनय है, या अविनय। यह आज मैं उस के जानने की जरूरत भी नही समझता। यदि मैं कुछ अधिक कह जाऊँ या लिख जाऊँ तो उसका जिम्मेदार समाज है। जब गुलाम स्वतंत्रता अखत्यार करता है, तब उस के द्वारा जो कुछ भी अतिरेक होता है, उसकी जिम्मेदारी उस के स्वामी के सिर पर ही होती है। आज तक मैंने समाज का अत्याचार सहन किया। जैसे एञ्जिन मे भाप को रोक रखने से एञ्जिन के फट जाने का मौका आ जाता है, ठीक उसी तरह अब तक समाज के बन्धनो को स्वीकार कर के दबी हुई मेरी वृत्ति आज उनको तोड़ कर बाहर निकल रही

है। आज समाज को समझाने के लिये मै अपने विचारो को नोट नहीं कर रहा हूँ। आज तो मै यह समझ कर कि समाज पागल है, और इस भावना की उन्मत्त दशा मे आ कर लिखना चाहता हूँ।

मै महात्मा गाँधी को ईश्वरीय पुरुष मानता हूँ। अर्थात् मै यह नहीं कहना चाहता हूँ कि वे मनुष्य नही हैं। वे मनुष्य हैं। मनुष्य मे जो जो विकार या विकल्प आ सकते हैं, उनके अधीन वे थे और अब भी है। गाँधी जी मे दैवीशक्ति प्रकट नहीं हुई है, अब प्रकट होगी, ऐसा मुझे ज्ञात होता है। फिर भी वह शक्ति प्रकट हो, या न हो, मुझे उसकी चिन्ता नही। यदि गाँधी जी अवतारी पुरुष होते तो मै हृदय को साक्षी करके कहता हूँ कि मै उन्हे कभी न पूजता। वे दैवी पुरुष हैं। उन्होंने श्रद्धा का विकास किया है। समाज जिन पुरुषो को अवतारी मानता है उनके गाढ़ परिचय मे आने का सद्भाग्य मुझे प्राप्त हुआ है। ऐसे लोगो के लिए मेरे मन मे भी उतना ही आदर है जितना कि समाज को है, परन्तु गाँधी जी ने अपने अन्दर श्रद्धा का जितना विकास किया है, इतना तो मै और कहीं न देख पाया और गाँधी जी का भक्त होने का इस से भी बढ़ कर मुख्य कारण यह है कि, मुझे जो श्रद्धा गाँधी जी दे सके, वह और कोई न दे सका। गाँधी जी स्वयं कहते है कि मुझे आत्मा का सम्पूर्ण दर्शन नहीं हुआ। इस वचन मे मुझे पूर्ण विश्वास है। इतने पर भी उन्हे जितना आत्म-दर्शन हुआ है, उतने ही से वे चार्वाको को आत्मवादी बना रहे है। दुर्बलो को सबल बना रहे है। मुझे श्रद्धा है कि इनके सहवास से मेरी आत्मा जाग्रत होगी।

गाँधी जी को मैं पूजता हूँ, उन्हे मै दैवी पुरुष कहता हूँ, किन्तु यह इसलिये नही कि वे देश-सेवक हैं, राजनीतिज्ञ है, या अत्यन्त नीतिमान् हैं, बल्कि इसलिए कि, मै जैसा भी कुछ हूँ, आत्मार्थी हूँ, और वह आत्मा मुझे गाँधी जी से प्राप्त हो जायगी, ऐसी श्रद्धा मुझमे है।

'सत्यान्नास्ति परोधर्मः', 'सत्यंतेंच परब्रह्म', 'अभय वै ब्रह्म', (He who has realized the soul can change the whole world) इत्यादि प्रचीन तथा अर्वाचीन सत्पुरुषों के वचनों का साक्षात्कार, मैंने गाँधी जी मे ही किया।

मै ज्यो ज्यो गाँधीजी के जीवन पर मनन करता हूँ, त्यों त्यो मै इस निश्चय पर आता जाता हूँ कि उनके अन्दर प्रारम्भ ही से एक योजना है। वह यदृच्छा का प्रवाह नही है। गाँधीजी हिन्दुस्थान के लिये ही नही है, बल्कि संसार के लिए है; यह भी प्रति दिन अधिकाधिक स्पष्ट होता जाता है। स्वामी विवेकानन्द अक्सर कहा करते थे कि, "सत्पुरुष यदि हिमालय की अज्ञात गुफाओं में अपने को मूँद कर वहाँ बैठे बैठे आत्मा का साक्षात्कार करें तो भी उसी क्षण संसार उन्नति को प्राप्त करता है।" इस वचन में पहले मुझे कवि की अतिशयोक्ति मालूम होती थी, किन्तु अब मुझे वही वचन स्वाभाविक सत्य के समान मालूम होता है। भारतीय संस्कृति का प्राण गाँधी जी मे एकत्र हुआ है। संसार में हजारों वर्षों से जो त्रिविध अशान्ति फैली हुई है, उसको मिटाने की भवौषधि गाँधी जी के हाथ लग गई है।

पाँच वर्ष पहले सिन्ध-हैदराबाद मे मीरो की कबर में बैठ कर हिन्दुस्तान का भविष्य मैं देख सका था। मेरे सम्मुख चारो

ओर रक्त-प्रवाह और विनाश के चिन्ह दीख पड़ते थे। यह रक्त अँग्रेजो का नहीं, हमारे देश-वासियो के पारस्परिक विद्वेष और कलह का परिणामस्वरूप वहा था। मै उस वक्त राष्ट्र-पूजा-धर्म को मानता था, मै खून का प्यासा था, फिर भी उस रुधिर-प्रवाह को देख कर मै स्तम्भित और दिङ्मूढ़ हो गया। मैने गद्गद कण्ठ से ईश्वर से प्रार्थना की कि, हे प्रभो! यह दृश्य सच्चा न सावित हो। गॉधी जी के परिचय से अव मुझे शान्ति मिली है। मैने देखा है कि गॉधी जी के धर्म की मोहिनी 'अघटितघटनापटीयसी' है। अव मेरे दिल में यह श्रद्धा उत्पन्न हो गई है कि जो सत्य का पालन करता है, जो सत्य के प्रति वफादार रहता है, उसके लिए संसार को कोई तत्व अदृश्य नहीं रहता। अगम्य वस्तु भी उसके दृष्टिगोचर हो जाती है।

गॉधी जी के धर्म—सनातन धर्म—की आवाज़ सारे संसार मे पहुँच गई है। उसका महात्म्य देश-देशान्तर के दिव्य पुरुषो की समझ मे आ गया है। जापानियो ने गॉधी जी का सन्देश सुना है, चीन मे भी वह फैल गया है। मुसलमानी दुनिया उसका पाठ पढ़ रही है। यूरोप के मजदूरो के सामने वह पढ़ा गया है। इस मे कुछ सन्देह नहीं कि गॉधी जी ने युग-धर्म का परिवर्तन किया है। अव युद्ध का अन्त आवेगा, वैर शान्त होगा और आत्मा का उदय होगा। व्यक्तियो मे आध्यात्मिक जागृति करने वाले सद्गुरु वहुतेरे हो गये हैं। विशिष्ट समाज को अध्यात्मपरायण करने वाले अवतारी पुरुष भी थोड़े नहीं हुए; पर अव जगद्-गुरु की जरूरत है। गॉधी जी जगद्गुरु हैं या उस जगद्गुरु के आगमन को सूचित करने वाले—उस आगमन की तैयारी करने

वाले अरुण हैं, यह मै नही जानता और न जानना ही चाहता हूॅ। श्रद्धावान् मनुष्य के लिये इतना ही काफ़ी है कि अब रात की समाप्ति हो गई और प्रकाश फूट कर निकल रहा है। मैं महावीर बुद्ध अथवा श्रीकृष्ण के साथ गॉधी जी की तुलना नहीं करता। परन्तु हॉ, जो धर्म उन्होने प्रवर्तित किया है, वह जैन-धर्म, बौद्ध-धर्म और भागवत के धर्म का निचोड़ है, और इसी कारण मै मानता हूँ कि वह इन तीनो धर्मों से बढ़ कर है।

एशिया की साधना

दक्षिण मे ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर का झगड़ा कितने ही वर्षों से चल रहा है। ब्राह्मणो को तो हम जानते ही है। परंतु ब्राह्मणेतर वर्ग कहाँ से उत्पन्न हो गया ? ब्राह्मणेतर नाम की कोई एक जाति तो है नहीं, फिर भी एक ब्राह्मणेतर पक्ष खड़ा हो गया है। ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर के प्रश्न मे जरा भी पड़े बिना हम कह सकते है कि ब्राह्मणो के ब्राह्मणत्व का अभिमान और इस बात का भान कि हम दूसरो से जुदे हैं, ब्राह्मणेतर वर्ग के खड़े होने ही का एक कारण है। ब्राह्मणो मे यह जाति का अभिमान तीव्र होने के कारण दूसरो मे विरुद्ध भावना जगने पाई है।

आज की हमारी एशिया विषयक भावना भी ऐसी ही है। जब से योरप के लोग भौतिक शास्त्रो और आसुरी राजनीति मे निपुण हुए, तब से उन्होने अपने अंदर परस्पर मत्सर और वैर के होते हुए भी, साधारण तौर पर अपनी एकता को अच्छी तरह कायम रक्खा है, और योरप ने बाहरी देशो पर धावा बोल दिया है। इस आक्रमण का शिकार हुये लोगो मे अपने अंदर ऐक्य कर लेने की भावना आगे पीछे अवश्य हो जायगी, और यही कारण है जो हमारे अंदर एशिया की एकता की कल्पना फैलने लगी है। एशिया की एकता की कल्पना के मूल मे, यदि यही एक कल्पना

हो तो भी वह एकता सकारण तो मानी जा सकती है, परंतु होगी वह कृत्रिम ही।

परंतु एशिया की एकता योरोपियनो के उत्कर्ष जितनी आधुनिक नहीं, वह बहुत ही पुरानी और गहरी है। चीन और जापान, रूस और मध्य एशिया, तुर्किस्तान, अरबस्तान, ईरान और हमारा हिंदुस्थान—ये सभी देश प्राचीन काल से परस्पर एकता के सूत्र से बँधे हुये है। पर उस वक्त योरोप जुदा नहीं था। यूरेशिया (यूरोप + एशिया) एक अखण्ड भूखण्ड था और यद्यपि आज वह उतना अखण्ड न रह गया हो, तथापि अन्त में वह अखण्ड होने ही वाला है।

कितने ही लोगों के मन में यह विचार आता है कि अभी हमे स्वराज्य नही मिला, हमारी म्युनिसिपल्टियाँ भी हमारे हाथ मे नहीं है, घर के अन्त्यजों को हम समाज मे सम्मिलित न कर सके—ऐसी स्थिति मे सारे एशिया के लिये कहाँ विचार करते फिरे ? परंतु यह आक्षेप ठीक नहीं है। ससार की आज की स्थिति का विचार करके भविष्य का विचार करते समय यदि समस्त ससार के साथ हमारे सम्बन्ध ध्यान मे लेकर विचार किया जाय तो ही हमे अपना मार्ग साफ दिखाई दे सकता है। फिर हम बाहरी ससार से चाहे कितने ही जुदा रहना चाहते हो, तो भी संसार कहाँ ऐसा है जो हमे जुदा रहने दे ? और हमारा सम्बन्ध भी ऐसी सल्तनत के साथ जुडा है कि जो बिल्ली की तरह हर एक घर के दूध और घी को चख आती है। इसलिए इस बात का भी विचार कर लेना जरूरी है कि हमारा आज पड़ोसी देशों के साथ सम्बन्ध किस तरह का है, और यदि हमारी परिस्थिति हमारे

कब्जे में आजाय तो हम उनके साथ कैसा सम्बन्ध रक्खेंगे।

बहुतेरों का कहना है कि, 'योरोपियन और हिन्दुस्थानी दोनों लोगो के हित एक दूसरे के विरोधी होने के कारण दोनो जातियाँ चाहे जितनी लडें, परन्तु दोनों का जीवन के आदर्श-के विषय में एक खास तरह का एक मत है। दोनो के राजकीय आदर्श और सामाजिक कल्पनाओ में, व्यापक दृष्टि से देखा जाय, तो एशिया के अन्य देशों की अपेक्षा साम्य और आकर्पण अधिक है। चीनी और भारतीय लोगो में जितनी सामाजिक एकता है, उससे कहीं अधिक योरोपियन और भारतीय लोगों मे है। हिन्दू धर्म और ईसाई धर्म इन दोनो मे जितना साम्य है, उतना हिन्दू धर्म और इस्लाम में नहीं। राष्ट्रीय अथवा सामाजिक आकर्पण देखते हुए हम एशिया के और देशो की अपेक्षा योरप के अधिक निकट है। इसलिए हमें योरप के साथ लड़कर भी अपना सम्बन्ध बढ़ाना चाहिए। एशियाई एकता भौगोलिक अथवा प्रादेशिक एकता है, परन्तु योरप के साथ हमारी एकता उच्च दृष्टि से देखने पर सांस्कृतिक अथवा जातीय है। जैसे एक लकड़ी के दो सिरे परस्पर विरुद्ध दिशाओं में होते हुए भी लकड़ी तो एक ही है, उसी तरह योरोपियन और भारतीय आदर्श, परस्पर-विरोधी होने पर भी, एक ही आर्य-आदर्श के वंशज है।

यह दलील निसार नही है। योरोप की वर्त्तमान संस्कृति आसुरी है; (राक्षसी नहीं) और हिन्दुस्थान की सस्कृति का आधारभूत आदर्श दैवी है; यदि यही मान लिया जाय तो भी देव और असुर दोनो भाई भाई हैं, यह बात हमारे पुराण कर्ताओ ने ही स्वीकार की है।

योरप के साथ हमारा परिचय अनिच्छित रीति से बढ़ा, इसलिए हम योरप के साथ थोड़े बहुत अंशों मे परिचित हुए। इसी तरह इस्लाम के साथ भी हमारा परिचय अनिच्छा पूर्वक ही हुआ, और हम इस्लाम की क़दर करना सीखे। अब ईश्वर का प्रश्न है कि संसार की एकता का अनुभव करने के लिए चीनी संस्कृति के साथ स्वेच्छापूर्वक परिचय करना है, या मै ज़बरदस्ती करा दूॅ? यदि अपने आप परिचय बढ़ाओगे तो स्वतन्त्र रहोगे, ज़बरन् बढवाना चाहोगे तो उसका मूल्य देना पड़ेगा।

यदि एशिया, योरप के सर्वभक्षी धनलोभ और सत्तालोभ से डरकर योरप का सामना करने के लिए एक हो जाय तो वह आसुरी सङ्घ होगा, क्योंकि वह सङ्घ योरप की तरह ही स्वार्थ-मूलक होगा। जिसमे क्षण-क्षण मे सन्धि और विग्रह के रङ्ग बदलते रहेगे। और अन्त मे सारा योरप एक ओर और सारा एशिया दूसरी ओर होकर, एक ऐसा महायुद्ध या अतियुद्ध चेतेगा कि जिसके अन्त मे मनुष्य जाति और मानवी संस्कृति का लग-भग संहार हो जायगा और हज़ारो वर्षों का मानव-पुरुषार्थ मटियामेट हो जायगा। सर्वोदय का आदर्श अपने सामने रखने वाला ऐसा क्यो होने देने लगा?

योरप का विरोध करे या न करे मनुष्य जाति की एकता को दृढ़ करने के लिए, दया-धर्म और शान्ति का साम्राज्य स्थापित करने के लिए एशिया को एक हो ही जाना चाहिये।

और एशिया एक होना चाहता भी है। हमारी यह खिला-फ़त की हलचल, एक तरह से एशियाई एकता की नीव है।

इस्लाम के साथ का हमारा सम्बन्ध पुराना है। खिलाफत की हलचल मे सहयोगी बनकर हम उसे पूर्ण कर रहे हैं।

हम लोगो ने एशिया की एकता का प्रारम्भ खिलाफत से किया है, किन्तु यह एकता की कल्पना कुछ आज की नहीं है। दिग्विजयी आर्य राजाओ ने चीन से मिस्र देश तक और उत्तर ध्रुव से कुछ नही तो लङ्का और बालिद्वीप तक सांस्कृतिक एकता स्थापन करने के प्रयत्न किये हैं। और इस एकता मे आर्य लोगों ने अपने पड़ोसियो को जितना दिया है, उतना उनके पास से निःसंकोच लिया भी है, अलवत्ते अपनी उच्च अभिरुचि के अनुसार पसन्दगी करके लिया है। मै मानता हूँ कि धमराज का राजप्रासाद बनाने वाला मयासुर चीन देशीय था, और उसकी पद्धति बृहस्पति तथा शुक्राचाय दोनो की कला से भिन्न थी। यह भी माना जाता है कि चीनदेश की चित्रकारी और नृत्यकला का प्रभाव भारतीय कलाओ पर हुआ होगा।

इतिहासकारो की राय के अनुसार एक समय एशिया की कला-कुशलता का केन्द्र समरकन्द और भोतान के आसपास के देश मे था। वहाँ से व्यापार के अनेक मार्ग भिन्न भिन्न दिशाओ मे जाते थे। एक रास्ता चीन की ओर जाता था, एक हिन्दुस्थान की ओर आता था, एक मिस्र देश में जाता था और एक योरप मे। और इस तरह वाणिज्य-व्यापार के साथ साथ संस्कृति का भी विनिमय इस मध्य भूमि मे होता था। जनार्दन की इच्छा हुई कि थोड़े दिनो के लिए ये सिरे एक दूसरे से अलग होकर कुछ कुछ भिन्नता प्राप्त करें। बस तुरन्त ही बालू के समुद्र उछलने लगे और उन्होने अमू दरिया और सर दरिया के देश को उजाड़

कर दिया। आज भी जब कि भारी आँधी आती है और बालू के परत उड़ जाते हैं, तब इस प्राचीन संस्कृति के अवशेष वहाँ मिलने लगते हैं।

आर्य लोग पहले से ही यात्रा-प्रवीण हैं। पहाड़ देखते ही उन्हें उसे पार करने की इच्छा हुए बिना नहीं रहती। नदी को देखते तो उसके उद्गम-स्थान की खोज लगाये बिना नहीं रहते। आर्यों का देव इन्द्र भुज्यु को समुद्र के पार ले गया था। आर्य राजा लोग हर एक राजसूययज्ञ में चीन और मिस्र देश के राजाओ को आमन्त्रित करते थे। अशोक राजा ने चारों दिशाओ मे बौद्ध धर्म का प्रचार करने तथा अभय का सन्देश सुनाने के लिये आर्यों और अर्हतो को भेजा था और उस दिव्य सन्देश को सुनने के बाद दयामय धर्मराज भगवान् बुद्ध के देश की यात्रा करने को दिगन्त के यात्री आने लगे थे।

एशिया की एकता साधने की सम्पूर्ण शक्ति धारण करनेवाला तत्व तो महायान बौद्ध धर्म ही था। महायान बौद्ध धर्म मे भगवान् बुद्ध का उपदेश, तन्त्र मार्ग की लोक प्रिय विधियाँ और अनेक देवताओं के वृन्द तो थे ही, पर इसके उपरान्त दुःख-सन्तप्त मनुष्य को दिलासा देनेवाले और परोपकारी वीर पुरुषों के आकर्षण करनेवाले बोधिसत्त्व का आदर्श भी था। जब महायान पन्थ का प्रसार हुआ, तब हिन्दुस्थान का चीन देश के साथ, ईरान, बेक्ट्रिया आदि पश्चिम एशिया के साथ और सुवर्ण द्वीप (ब्रह्मदेश) के साथ सम्बन्ध घर के आँगन के समान हो गया था। इसके बाद धर्म-साम्राज्य की कल्पना अरबस्तान मे पहुँची और उसने तीन खण्डो मे एकेश्वरवाद और समता का सन्देश

पहुँचाया। अब भी यह धर्म मध्य एशिया और अफ्रिका में नये नये लोगो को अल्लाताला और उनके नबी साहब के चरणों मे लाने का कार्य करता है। जब मुसलमानी धर्म का उदय हुआ तब हिन्दुस्थान के धर्म-धुरन्धर ब्राह्मण और श्रमण लोग तिब्बत और चीन मे जा बसे थे। हिमालय और हिन्दू-कुश के पल्लेपार अनेक मठो मे हिन्दुस्थान की प्राचीन संस्कृति के साक्ष्य-रूप साहित्य, स्थापत्य और कला के नमूने मौजूद हैं। हिन्दुओ की परम पवित्र यात्रा कैलास और मान-सरोवर की है। इसके द्वारा हिन्दू और चीनी-संस्कृति की देन-लेन अखण्ड रूप से होती रहती थी। आज भी वह कुछ अंशो मे चल ही रही है। जहाँ जहाँ हिमालय पार करके उत्तर दिशा की ओर जाने के रास्ते है, वहाँ वहाँ आर्य-संस्कृति के थाने—तीर्थ-स्थान—खड़े है।

हिन्दुस्थान का शिष्य-समूह जितना हम जानते है, उससे कहीं बड़ा है। चीनी और जापानी लोग हिन्दुस्थान को आदर की दृष्टि से देखते है। तिब्बत यात्रा के मार्ग फिर से खुलने लगे है। हिन्दुस्थान का अहिंसा का मार्ग सारे संसार मे विख्यात हो गया है। योरप और एशिया के बीच के युद्ध मे यदि हम अहिंसा धर्म को प्रधान पद देंगे तो चीन देश मे उसका स्वीकार अवश्य होगा और उसका प्रभाव जापान के ऊपर पड़ेगा। खिलाफत का फैसला हो जाने के कारण मुसलमानो ने भी अहिंसा-धर्म का महत्त्व समझ लिया होगा और इस तरह केवल एशिया की ही नहीं, वरन् सारे संसार की एकता करने के लिये आवश्यक वायुमण्डल तैयार हो जायगा।

३

एशिया को एक हो जाना ही चाहिये, किन्तु वह किस लिये? स्वार्थ के लिए नहीं, योरप से युद्ध करके उसको पादाक्रान्त करने के लिए नहीं, किन्तु योरप मे जो स्वार्थ-परायण साम्राज्यवाद की बाढ़ आ गई है, उसका नाश करने के लिए और धर्म का साम्राज्य स्थापित करने के लिए।

भूगोल का ज्ञान या भूगोल का भान

(एक मित्र को लिखी हुई चिट्ठी)

ऐसे परखैयों को भी मैंने देखा है जो किसी सोने की अँगूठी को हाथ मे लेते ही यह बतला देते हैं कि वह कितने तोले और कितनी रत्ती की है। पास मे घड़ी न रख कर भी कितने ही लोग स्वभावत' आसानी से बराबर समय बता देते हैं। मुझे स्वयं पहले यह तरकीब सध गई थी—रात को आँख खुलते ही मैं प्राय. ठीक ठीक समय बतला देता था, पर अब भूल गया हूँ। पढ़ना-लिखना न जाननेवालो की स्मरण-शक्ति और निरीक्षण-शक्ति बहुत तेज होती है। इसी तरह देहाती मनुष्यो को दिशाओ का भान बहुत ही अच्छा होता है। कबूतरों की आँखों मे पट्टी बाँधकर उन्हे सन्दूक में बन्द कर चाहे जैसे टेढ़े-मेढ़े रास्ते से एक गाँव से दूसरे और दूसरे से तीसरे मे ले जाइए, ज्यो ही आपने उन्हे छोड़ा नहीं कि वे जिस गाँव से लाए गये थे, ठीक सीधी लकीर मे तुरन्त उसी जगह जाकर बैठ जायँगे। दिशाओं का यह भान कबूतरो में स्वाभाविक है।

अब प्रश्न यह है कि शिक्षण में कौन सा ध्येय नियत करना चहिये ? आपका भूगोल-विषयक प्रश्न उससे कहीं अधिक व्यापक है जितना कि आपने उसका निरूपण किया है। शिक्षा का ध्येय कौन

सा हो ? आज-दिन तो लोग शिक्षा की व्याख्या एक प्रकार की करते है और बर्ताव और ही प्रकार का। शिक्षा की व्याख्या है अन्तस्थशक्तियों का विकास करना परन्तु बाह्य साधनो को काम मे लाना सीखना, यह हुआ उसका मार्ग। पाश्चात्यों की व्याख्या के अनुसार (तथा अपनी प्राचीन प्रणाली के अनुसार भी) शिक्षा का अर्थ है योगविद्या। क्या अध्यात्म और क्या कला, क्या पदार्थ-विद्या और क्या धनुर्विद्या सभी पहले हम लोग 'योगबलेन्' अवगत अथवा हस्तगत करते थे। इसका एक स्थूल उदाहरण दूं तो, पहले अमरकोश मुखाग्र कर लेते थे, अब थेसारस* का उपयोग कैसे किया जाय, यह सीखा जाता है। पहले हम लोग अङ्क (गिनती) याद करते थे, अब 'रेडी-रेकनर' का उपयोग किस तरह करना चाहिए और चेम्बर के लागरथम का कोष्टक किस तरह काम मे लाना चाहिए, यह सीखते हैं। पहले इस बात पर अधिक ध्यान दिया जाता था कि कण्ठ से उत्तम स्वर कैसे निकले ? आज दिन इसके लिए परिश्रम किया जाता है कि वही स्वर ग्रामोफोन मे किस तरह उतारें। साराश यह है कि पहले कलावान् होकर शक्तिशाली होने की ओर झुकाव था और अब धनवान् होकर साधनवान् होने की प्रवृत्ति देखने मे आती है।

आज कल योरप मे साधनो के सम्बन्ध मे एक तरह का वैराग्य उत्पन्न होने लगा है और अन्तःस्थ शक्ति की वृद्धि करने की लालसा दीख पड़ती है। किन्तु यह लालसा किस रास्ते से पूरी होगी, यह अभी निश्चित नही हुआ। उनका आधार बहुतांश

---

* Thesarus (शब्दकोश)

मे उपकरणो पर है और हमारा आधार था ध्यान के ऊपर। गुण और दोष दोनो पद्धतियो में वर्तमान हैं। साधनों के द्वारा अयोग्य मनुष्य भी बहुत सुख प्राप्त कर लेते हैं। अन्तःस्थ शक्ति तो जिसमे हो उसीको लाभकर या हानिकर होती है। नक्शे के संबंध मे ऐसा ही हुआ है। 'हमारा स्वदेश हिन्दुस्थान या प्यारा हिन्दुस्थान' आदि गीत गाते समय लकड़ी की दो चीपो मे मढ़ा हुआ लाल और पीले (तथा कहीं कहीं हरे) रंग का नक्शा आँखो के सामने आ खडा हो तो वह किस काम का ? लड़का यदि और अधिक पढ़ा हो तो उसे बहुत हुआ तो फिलिप के रिलीफ़ मैप को याद हो आवेगी। मुँह से 'भारत हमारा देश है' इन शब्दो के निकलते ही दशहरे के दिन गङ्गा जी मे स्नान करने का, शिवरात्रि के दिन श्रीरामेश्वर पर अभिषेक करने का चित्र तथा दीवाली के अवसर पर सजाया हुआ अमृतसर, मुहर्रम के दिनो का पूना, दुर्गापूजा करता हुआ कलकत्ता और दशहरे के दिन सीमोल्लंघन के लिए जाने वाला वड़ोदा आँखो के सामने उपस्थित हो जाना चाहिए। 'अम्बरचुम्बितभाल हिमाचल' का आलाप कानो पर आते ही नन्दा देवी के दिव्य शिखर, गौरीशङ्कर के धवल मुकुट की स्मृति खड़ी हो जानी चाहिए। हिन्दुस्थान शब्द कान मे पड़ते ही आगरे का ताजमहल, अजन्ता की गुफ़ायें, सिंहगढ़ का किला और अजमेर का पुष्करराज सरोवर, हलदी घाट तथा पानीपत की रणभूमि का स्मरण हो जाना चाहिए, शङ्कराचार्य और समुद्रगुप्त, अशोक और अकबर, कालिदास और तानसेन, जगदीश और रवीन्द्र, गाँधी और तिलक, वेसेण्ट और निवेदिता—इन सबो का स्मरण हो जाना चाहिए।

पर यह सब हो किस तरह ? इस समय 'सुवर्णयुग' लगा है। जहाँ देखो वहीं सुवर्ण के लिए छटपटाहट हो रही है, कि लड़का अति शीघ्र कमाने धमाने लग जाय, क्योंकि पैसे बिना कुछ नहीं मिलता। देशाटन करके और प्रवासियों के साथ हिलमिल कर धीरे धीरे देश-भूमि का भान हो इतनी देर तक धैर्य किसको ? साहित्याचार्य पत्नी को अर्धाङ्गिनी कहते आये हैं. स्त्री-स्वातन्त्र्य के ज़माने ने उनके शब्द झूठे हो गये हैं। आज कल तो मनुष्य का अर्धाङ्ग उसकी घड़ी. साइकल. थरमामेटर. रेल्वेगाइड, दैनिकपत्र, नक्शे और Who is who ये हैं।

जिस समय आपका पत्र आया उस समय मेरा भूगोल-विषय ही चल रहा था और मैं ···· से पूछ रहा था कि ईशान्य कोण कौनसा है ? उसने कहा मैं नक्शे पर बतला सकता हूँ, वैसे तो नहीं जानता। इस उत्तर को सुन कर मैं लज्जित हो गया। इतने ही मे आपका पत्र मिला।

इसके दो ही घण्टे बाद मैंने एक अँगरेज़ी पुस्तक में पढ़ा—

'Maps have become so completely mixed up with our thoughts of places far and near that we take their existence as a matter of course, almost in the same way as that of the sun above our heads or the air about us.'

नवरात्र

महिषासुर साम्राज्यवादी था। सूर्य, इन्द्र, अग्नि, पवन, चन्द्र यम और वरुण आदि सभी देवताओ का अधिकार वह स्वय ही चलाता था। उसने स्वर्गीय देवो को भूलोक की प्रजा बना दिया था। कोई भी अपने स्थान मे अपने को सकुशल नहीं मानता था। देवगण परमात्मा की शरण में गये और सृष्टि की व्यवस्था को महिषासुर ने कितना अस्त व्यस्त कर डाला है, यह सब उन्होने परमात्मा से कह सुनाया। पूरा वृत्तान्त सुन लेने पर विष्णु, ब्रह्मा और शङ्कर आदि सभी देवताओ के शरीरो से पुण्य प्रकोप प्रकट हुआ और उसकी एक दैवी शक्ति-मूर्ति निर्माण हुई। इस सर्व देवमयी शक्ति को देवो ने अपने अपने आयुध देकर मण्डित किया। इसके बाद देवों की दैवी शक्ति और महिषासुर की आसुरी शक्ति इन दोनो के बीच भयङ्कर युद्ध ठना। कौन कह सकता है कि वह युद्ध कितने वर्ष तक होता रहा? किन्तु माना यो जाता है कि यह युद्ध आश्विन शुक्ल प्रतिपदा से दशमी पर्यन्त चलता रहा और उसी के अनुसार दैवी शक्ति के विजय के उपलक्ष्य मे नवरात्र का उत्सव हम लोग मनाते हैं।

दैवी शक्ति परमा विद्या है, ब्रह्मविद्या है—आत्मतत्त्व, विद्यातत्त्व और शिवतत्त्व का शुद्ध स्वरूप है। यह शक्ति 'शठं प्रति शुभङ्करी' है। 'अहितेषु साध्वी है; वह शत्रुओ पर भी दया प्रकट करती है

दुष्ट लोगों के दुष्ट स्वभाव को शान्त कर देना, यही इस दैवी शक्ति का शील है। 'दुर्वृत्तवृत्तशमनं तव देवि शीलम्।'

इस शक्ति को असुरों ने न समझ पाया। भक्त जब दैवी शक्ति की जय बोलने लगे, तब असुर लोग घबड़ा कर चिल्लाने लगे—'अरे, यह क्या, यह क्या?'। अन्त में असुरों का राजा स्वयं ही लड़ने लगा। उसने अनेक प्रकार की नीति से काम लिया, अनेक रूप धारण किये, किन्तु अन्त में 'निश्शेषदेवगणशक्ति-समूहमूर्ति' को ही विजय हुई। अनुकूल हवा बहने लगी, वर्षा ने पृथ्वी को सुजला और सुफला कर दिया, दिशायें प्रसन्न हुईं और भक्तगण देवी का मङ्गल-गान करने लगे। देवी ने भक्तों को आश्वासन दिया कि, 'जब जब इस तरह की आसुरी वृत्ति से क्लेश बढ़ेगा, तब तब मैं स्वयं अवतार धारण करके दुष्टता का नाश कर दूँगी।'

यह महिषासुर हर एक मनुष्य के हृदय में अपना साम्राज्य स्थापन करने का बड़ा उद्योग करता है और ऐसे समय दैवी शक्ति को, उसके सभी स्वरूपों को पहचान कर उनका समूलो-च्छेदन करना पड़ता है। यह युद्ध हर एक हृदय में कितने वर्षों तक होता रहता है, यह हर एक मनुष्य अपने अन्तःकरण को जाँच कर जान सकता है। हमें नवरात्र के दिनों में हृदय में अखण्ड दीप जला कर उस दैवी शक्ति की आराधना करनी चाहिए। क्योंकि जब वह प्रसन्न हो जाती है, तब वह दैवी शक्ति ही हमें मोक्ष दिला देती है।

सैषा प्रसन्ना-वरदा, नृणां भवति मुक्तये।

बलि का राज्य

बलि राजा ने दान का नियम लिया था। जो याचक जो वस्तु माँगता था, बलि राजा उसे वही वस्तु दे देता था। बलि के राज्य मे जीवहिंसा, मद्यपान, अगम्यागमन, चोरी और विश्वासघात—इन पाँच महापापो का नाम भी कहीं न था। सर्वत्र दया, दान और उत्सव की चहल-पहल थी। अन्त मे बलि राजा ने वामन-मूर्ति श्रीकृष्ण को सर्वस्व अर्पण किया। बलि की दान शूरता के स्मारक के तौर पर श्रीविष्णु ने बलि के नाम से तीन दिन रात का त्योहार निश्चित किया। यही हमारी दीवाली है। बलि के राज्य मे आलस्य, मलिनता, रोग और दारिद्र्य का अभाव था। बलि राजा के राज्य मे अथवा लोगो के हृदय मे अन्धकार न था। सभी प्रेम से रहते थे। द्वेष, मत्सर या असूया का कारण ही न था। बलि का राज्य जन-साधारण के लिये इतना लोकोपकारी था कि जिसके कारण प्रत्यक्ष श्रीविष्णु उसके द्वारपाल बन कर रहे। इसी कारण यह निश्चित किया गया कि बलि राजा के स्मारक मे, इस त्योहार के पहले कीच-मट्टी और गन्दगी निकाल डाली जाय, जहाँ अँधेरा हो, उस स्थान को दीपावली से शोभित तथा प्रकाशित कर दिया जाय। निश्चित किया गया कि लोगो के प्राणहारक यमराज का तर्पण करे, पूर्वजो का स्मरण करे, मिष्टान्न भक्षण करे, सुगन्धित धूप, दीप तथा पुष्प-पत्रो से सुन्दरता

बढावें। इन दिनो मे सायङ्काल की शोभा इतनी मनोहारिणी होती है कि, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, औषधि,* पिशाच, मन्त्र और मणि ये सभी उत्सव का नृत्य करते है। लोग बलि राजा का स्मरण करके चित्र-विचित्र रङ्गो से चौक पूरते हैं। सफेद चांवल के तरह तरह के सुन्दर चित्र बनाते है। गाय और बैल आदि गृह पशुओ को सजा कर उनका जुलूस निकालते हैं। छोटे और बड़े सब हिलमिल कर आपस मे यष्टिका कर्षण खेलते है। यह योरपियन लोगो की 'टग ऑफ वॉर' के जैसा एक खेल है। इसी को हम लोगो ने एक नया नाम गजग्राह दे दिया है। प्राचीन काल मे दीवाली के दिन राजा लोग अपनी राजधानी के, सभी लड़को को सार्वजनिक आमन्त्रण देते और उन्हे खेल खिलाते थे।

सुगन्धित द्रव्यों की मालिश करके स्नान करना, तरह तरह के दीपको की पंक्तियाँ बाँधना और इष्ट-मित्रो के साथ मिष्टान्न भोजन करना यह दीवाली का मुख्य भाग है। यदि बलि-राज्य मे प्रवेश करना हो तो द्वेष, मत्सर, ईर्ष्या और अपमान आदि सभी भूल कर सभी के साथ एकचित्त हो जाना परम आवश्यक है। इस तरह निष्पाप होकर नये वर्ष मे प्रवेश करना हमारी पुरानी प्रथा है।

आज के दिन सत्यभामा ने श्रीकृष्ण की सहायता से नरकासुर का नाश किया था और सोलह हज़ार राजकन्याओ को मुक्त किया था।

---

* औषधि = जङ्गली जड़ी-बूटियाँ दीवाली की रात में अपना २ प्रभाव पाती हैं।

दीपावली के उत्सव में स्त्रियों की उपेक्षा नहीं की गई है। स्त्री और पुरुष के सभी सम्बन्धों में भाई और बहन का सम्बन्ध शुद्ध सात्विक प्रेम का और समानता के उल्लास का संबंध होता है। इतना व्यापक और इतना उल्लास युक्त प्रेम पति-पत्नी और माता-पुत्र का नहीं होता।

धनतेरस से भैयादूइज तक के पाँचों दिनों के साथ यमराज का नाम जुड़ा हुआ है। इसका क्या उद्देश होगा? इन्द्रप्रस्थ का राजा हँस मृगया के लिए पर्यटन कर रहा था। हैम नामक एक छोटे राजा ने उसका आतिथ्य किया। उसी दिन राजा हैम के घर पुत्रोत्सव था। राजा आनन्द मना ही रहा था कि इतने में भवितव्यता ने आकर कहा कि, विवाह हो जाने पर चौथे दिन यह पुत्र सर्प दंश से मर जायगा। हँस राजा ने उस पुत्र को बचाने का निश्चय किया। यमुनाजी के एक डोह में एक सुरक्षित घर बनवा कर हैम राजा को उसमें रहने के लिये उसने कहा। सोलह वर्ष के बाद राजपुत्र का विवाह हुआ। विवाह से ठीक चौथे ही दिन ऐसे दुर्गम स्थान में भी सर्प प्रकट हुआ और राजपुत्र मर गया। आनन्द की घड़ी अपार शोकमय हो गई। इस करुणप्रसङ्ग में क्रूर यमदूतों को भी दया आई और उन्होंने यमराज से यह वर माँग लिया कि, जो कोई मनुष्य दीपावली के पाँच दिन तक दीपोत्सव करे उस पर ऐसा शोकमय प्रसङ्ग न आवे।

यह तो धनतेरस की बात हुई। नरक चतुर्दशी के दिन तो भीष्म और यमराज के तर्पण का विशेष रूप से विधान बताया गया है। दीपावली तो अमावस्या का दिन, उस दिन तो यमलोक निवासी पितरों का पूजन और पार्वण श्राद्ध करना ही होता है।

प्रतिपदा के लिये यमराज की कोई कथा नहीं मिलती, किन्तु ऐसा मान लेने मे बाधा नहीं कि, यमराज भी उस दिन अपनी नई बही आरम्भ करते होंगे। भैयादुइज के दिन यमराज अपनी बहन यमुना के यहाँ भोजन करने जाते हैं। दीवाली की स्वच्छ-न्दता के साथ यमराज का स्मरण रखने मे उत्सवकारों का जो कुछ उद्देश रहा हो, किन्तु उसका प्रभाव बहुत ही अच्छा पड़ता होगा, इसमे कोई सन्देह नहीं। जिन्होंने उत्सव मे भी संयम रक्खा होगा वही यमराज के पाशों से मुक्त रह सकेंगे।

सत्यनारायण

स्वामी विवेकानन्द ने अपने 'उद्बोधन' मे कितनी ही उत्तम कथाये और सुदर शब्द-चित्र दिये है। उनमे एक नीचे लिखा हुआ भी है। "सनातन हिन्दू-धर्म का कैसा भव्य गगन स्पर्शी मन्दिर! मन्दिर मे जाने के रास्ते भी कितने? और उस मन्दिर मे नहीं क्या है? वेदान्तियो के निर्गुण ब्रह्म से लेकर ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, दुर्गा, सूर्यनारायण, चन्दामामा और चूहे पर सवारी करने वाले गणेश जी से लेकर ठेठ छठी, शीतला जैसे छोटे बड़े देव देवियो पर्यन्त सभी कुछ हैं। और वेद, वेदान्त, दर्शन, पुराण, तथा तन्त्र आदि मे इतनी सामग्री भरी पड़ी है कि, उनमे से किसी एकही के द्वारा भव बन्ध छूट सकता है। फिर इस मन्दिर के सम्मुख लोगो की भीड़ भी कितनी? तैतीस करोड़ मनुष्य उस मन्दिर की ओर दौड़ते है। हमारे मन मे भी कौतूहल हो जाने से हम पैदल चले। पर जाकर देखते हैं क्या? मन्दिर के भीतर तो कोई जाता ही नहीं। दरवाजे पर पचास सिर, सौ हाथ, दो पेट और पचास पॉव की एक मूर्ति खड़ी है और सब लोग इस मूर्ति के चरणो मे लोटाङ्गण डाल रहे है। एक मनुष्य से पूछा गया कि, यह है क्या? तो उसने कहा, पहले मन्दिर मे जो देव देवियाँ देख पड़ती हैं, उन्हे दूर ही से नमस्कार करना चाहिए और उन पर एक दो फूल फेक दे तो उनकी खूब

पूजा हो गई, समझना चाहिये । किन्तु असली पूजा तो इन द्वारस्थ देवता ही की करना चाहिए । और आज दिन जो वेद, वेदान्त, दर्शन, पुराण और शास्त्र सभी तुम देखते हो इनका श्रवण प्रसङ्गोपान्त करो तो कुछ बाधा नहीं, परन्तु हुक्म तो इसी का मानना चाहिए ।"

हमने फिर पूछा "तो इन देवाधिदेव का नाम क्या है" ? उत्तर मिला, "लोकाचार ।"

इस चमत्कार पूर्ण शब्द-चित्र मे स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दू धर्म का असली स्वरूप बतलाया है । यह स्थिति हिन्दू धर्म ही की है, सो नहीं । सारे संसार में सभी धर्मों की यही स्थिति है । शास्त्र की प्रगति तर्कानुसार भले ही चले, किन्तु लोकरूढ़ि तो उसी दिशा मे बहती है जहाँ हृदय का प्रवाह जाता है । ईसाई धर्म मे तथा इस्लाम मे कितने ही सम्कार और प्रणालियाँ उन धर्मों के सिद्धान्तो से भिन्न ही हैं । हिन्दुस्थान के समाज मे द्विजाति और अद्विजाति दो बड़े भेद होने के कारण शास्त्र धर्म और प्राकृत धर्म इस तरह दो निश्चित भेद पड़े हुये हम देखते हैं । धर्म-सुधारको ने समय समय पर इस प्राकृत धर्म को सुधार कर उसे संस्कृत धम बना देने का प्रयत्न किया है । रूढ़-धर्म और उसकी रूढ़ियो की निन्दा करने ही मे हमने इधर कितने ही वर्ष गँवा दिये, परन्तु यह हमारे ध्यान मे न आया कि रूढ़-धर्म के मूल मे राष्ट्रीय प्राण निहित होता है । देश की खामी और खूबी देश की शक्ति और अशक्ति इस रूढ़ धर्म ही की अहसानमन्द होती है । किसी भी देश का शास्त्र-धर्म उस देश के आदर्श अथवा महत्त्वाकांक्षा को बतलाता है, किन्तु देश की यथार्थ स्थिति रूढ-धर्म पर से ही

समझ मे आ सकती हैं। समाज जब बहते हुए पानी के सदृश पुरुषार्थी और स्वच्छ होता है तब शास्त्र-धर्म पत्थर के समान कठोर नहीं बन जाता, और न रूढ़-धर्म ही अपमानित होता है। समाज मे उच्च-वर्ग और सर्व-साधारण-वर्ग जब परस्पर मिल जुल कर रहते हैं तब शास्त्र-धर्म की उदात्तता रूढ़-धर्म में झर कर उतर आती है, और जैसे कमल को कीच से पोषण मिलता है वैसे ही शास्त्र-धर्म को रूढ़-धर्म से नित्य नया भोजन मिलता है। शास्त्र-धर्म का तर्क-शास्त्र बहुत तीक्ष्ण होता है, शास्त्र-धर्म का मानस-शास्त्र बहुत सूक्ष्म होता है। रूढ़-धर्म भोला होता है। वह मनुष्य-स्वभाव की गहरी परीक्षा नहीं करता। शास्त्र-धर्म तो ब्रह्मदेव के समान हंसारूढ़ होता है पर रूढ़-धर्म बहुचराजी* के समान कुक्कुट-वाहन होता है। शास्त्र-हंस को तत्त्वरूपी मोती मिलते हैं या नहीं, यह तो बतलाना कठिन है, किन्तु रूढ़ि-मुर्गे को, उसके बहुत फिरते रहने के कारण, संस्कार-रूपी दाने खूब मिल जाते हैं।

आज कल योरप मे ऑन्थ्रोपॉलॉजी (Anthropology) अथवा मानव-वंशशास्त्र की ओर संस्कारी लोगो का ध्यान विशेष रूप से है। इसका प्रभाव यहाँ भी पड़ा है, और यहाँ के विद्वान् गण शास्त्रबाह्य हिन्दू संस्कारो का और रीतियों का अध्ययन करने लगे है। बङ्गाल मे रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने बाउल सम्प्रदाय के साहित्य की ओर लोगो की दृष्टि आकर्षित की है। मैसोर मे मिथिकल सोसाइटी ने, बम्बई में सर नारायण चन्दावरकर ने, लोक-

---

* भगवती भवानी की एक विभति का नाम।

रूढि की दृष्टि से हिन्दू-धर्म का रहस्य खोज निकालने का प्रयत्न आरम्भ किया है। योरप मे मानव-वंश-शास्त्री मुख्यत. इस तरह के साधनों को संग्रह करने और भिन्न भिन्न देशो की प्रचलित मान्यताओ की तुलना करने का काम करते आये है।

सस्कारी सनातन धर्म का रूढ़-धर्म भी महान् संस्कारी है। इसका अध्ययन जुदी ही रीति से होना चाहिए। किम्बहुना, हिदू समाज के नेताओ की दृष्टि पहले ही से इस रूढ़-धर्म की ओर जा चुकी थी, अतएव उन्होने रूढ़-धर्म के स्वतन्त्र प्रवाह को किसी तरह भी रोके बिना ही उसे संस्कारी बनाने का शुभ प्रयत्न पहले ही से अङ्गीकार किया है। उन्होने रूढ़-धर्म के सभी देव-देवियो को पञ्चायतन के अवतार बना डाले, उनमे से प्रमुख देव-देवियो को राष्ट्रीय त्योहारो मे स्थान दे दिया, मास के स्थान मे उड़द का आटा और कुम्हड़ा रखकर हिसक संस्कारो को अहिंसक बना दिया और जन साधारण को उन्नति के मार्ग मे लगाया।

रूढ़-धर्म मे बहुत शुद्धता की खोज करना ही भारी भूल है। लोगो का स्वभाव जैसा है वैसा ही उसे लेकर उसमे उन्नति का एक-आध बीज बो देना और लोक जीवन मे अहिसा की एक-आध काव्यमयी छटा मिला देना इतना ही काम वहॉ हो सकता है। इसी दृष्टि से हिन्दू-शास्त्रकारो ने रूढ़ धर्म मे कौन से और कितने सस्कार किये है और उसके बदौलत आज का हिन्दू-जीवन कैसा संस्कारी और काव्यमय हो गया है, यह हमे सस्कृति की दृष्टि के जॉचना चाहिए। भगिनी निवेदिता ने इस तरह का अध्ययन बहुत किया है। फील्डिङ्ग हाल ने ब्रह्मदेश के सम्बन्ध मे इसी तरह के लेख लिखे है। किन्केड साहब ने अङ्गलोइण्डियन

पद्धति से इस दिशा मे बहुत कुछ लिखा है। परन्तु हम इतने ही से सन्तोष नहीं मान सकते। हमे हर एक त्योहार, रीति और सस्कार की छानवीन करना चाहिए और यह खोज निकालना चाहिए कि उसमे कौन सा रहस्य निहित करनेका प्रयत्न किया गया है। रूढ़ि मे दोषो का देखना कुछ कठिन नहीं है, परन्तु सत्य-दृष्टि गुण-दोषो की विवेचना नहीं करती, वरन् रहस्य जानना चाहती है। हमारे देश मे प्रचलित व्रत और उत्सवो का अध्ययन इसी दृष्टि से करने का हमारा विचार है। प्राय' उसमे सारे भारत मे अत्यन्त लोकप्रिय और औरो से अत्यन्त नवीन व्रत सत्यनारायण के व्रत ही से प्रारम्भ करे।

"सत्या परता नाही धर्म, सत्य तेंच परब्रह्म।"

—मुक्तेश्वर।

सत्यनारायण। का व्रत गुजरात, महाराष्ट्र, संयुक्त प्रान्त, मध्य-भारत और मध्य-प्रान्त मे बहुत लोकप्रिय है। धर्म-शास्त्रो मे इस व्रत,को स्थान नही, किन्तु रूढ़-धर्म मे सत्यनारायण व्रत का स्थान उच्च है। लोगो की यह धारणा है कि इस व्रत से मनोकामनाये सिद्ध होती है। इस व्रत मे सत्यनाराण की पूजा, कथाश्रवण और प्रसाद-भक्षण ऐसे तीन मधुर विभाग हैं। शायद, इसी कारणवश इस व्रत मे सत्य की जो महिमा है, वह लोगो के ध्यान मे नहीं आती। लोगो का ध्यान उस ओर आकर्षित करने के लिए यह छोटा सा प्रयत्न किया जा रहा है। इस रहस्य को पढ़ने के पूर्व जिन्हे सत्यनारायण की कथा मालूम न हो, उन्हे उसे जान लेना परम आवश्यक है।

धर्म मानवी हृदय की अत्यन्त उच्च वृत्ति है, और वह मनुष्य

के सम्पूर्ण जीवन मे व्याप्त रहती है। हमारा जीवन जैसा ही उत्तम, मध्यम अथवा हीन होता है, वैसा ही रूप हम धर्म को भी देते हैं। बुद्धि प्रधान तार्किक लोग जहाँ धर्म वृत्ति को तत्वज्ञान का दार्शनिक रूप देते हैं, प्रेमी नम्र लोग उपासना का रूप देते हैं, कर्मप्रधान कला-रसिक लोग पूजा-अर्चा इत्यादि तान्त्रिक विधियो द्वारा धर्म्मवृत्ति का पोषण करते हैं, तहाँ साधारण अज्ञ जन-समुदाय कथा-कीर्तन द्वारा ही धर्म के उच्च सिद्धान्तो का आकलन कर सकता है !

धर्माचरण के फल के सम्बन्ध मे भी यही सिद्धान्त लागू होता है। धर्माचरण का फल अन्त.स्थ और उच्च होता है, यह बात जिनके ध्यान मे नही आ सकतो उनके सन्तोषार्थ पौराणिक कथाओ द्वारा बाह्य फल दिखलाने पड़ते है। धर्मतत्त्व कितने ही ऊँचे हो, किन्तु यदि उन्हे समाज मे रूढ़ करना हो तो उन्हे समाज को भूमिका पर्यन्त नीचे उतारना पड़ता है। भगवान् तथागत के उपदिष्ट तत्त्व उच्च, उदात्त और नैतिक थे किन्तु जब उन्हें देव-देवता, पूजा-अर्चा तथा मन्त्र-तन्त्र आदि का तान्त्रिक स्वरूप देकर महायान-पन्थ अवतरित हुआ तभी वे तत्त्व अथवा उनका अश आधे एशिया खण्ड को जॅचा। यह सत्यनारायण का व्रत भी इसी किस्म का एक ताज़ा उदाहरण है। सत्यनारायण का व्रत इसी अन्तिम शताब्दी के भीतर निर्माण हुआ है, ऐसा एक पुराण धर्माभिमानी शास्त्री ने कहा था। परन्तु इस व्रत के विस्तार और लोकप्रियता को देखकर यह कहने मे कोई बाधा नही है कि लोगो के हृदय में निवास करने वाले धर्म का स्वरूप इस व्रत मे दृष्टिगोचर होता है।

संसार का बहुत सा व्यवहार अल्पप्राण लोगों के हाथ में होता है। बहुजन-समाज की सत्य पर श्रद्धा बहुत थोड़ी होती है। संसार में चाहे जैसी हानि को सहन करने योग्य पुरुषार्थ लोगो मे नहीं दिखाई देता। सत्यासत्य का कोई न कोई विधि-निषेध रक्खे बिना क्षणिक और दृश्यमान लाभ के लिए लोग वचन-भङ्ग कर डालते है, नियम-भङ्ग कर देते है और झूठे को सच्चा कर दिखलाते हैं। अतएव यह एक भारी प्रश्न है कि, कामना-सिद्धि के लिए सत्य को धता बताने वाले अज्ञजनों को सत्य की लगन किस तरह लगानी चाहिए और ऐसी श्रद्धा किस तरह दृढ़ करनी चाहिए कि सत्य-सेवन ही से अन्त मे सर्वकामना-सिद्धि होती है। साधु-सन्तो ने, नियमो की रचना करनेवालो ने, तथा समाज के नेताओं ने अनेकों प्रकार से प्रयत्न कर देखे है। सत्यनारायण-व्रत के प्रवर्तक ने इस प्रश्न को अपनी शक्ति और बुद्धि के अनुसार सत्यनारायण की पूजा और कथा द्वारा हल करने का प्रयत्न किया है।

लोगो मे सत्यनारायण की पूजा प्रचलित करने से दो हेतु सिद्ध होते हैं। लोग सत्य-सेवी हो, यह एक उद्देश्य, और सत्य की महिमा समाज मे निरन्तर गाई जाया करे, यह दूसरा उद्देश। इस पूजा का नाम उत्सव नहीं, व्रत रक्खा है; यह बात भी इस जगह ध्यान मे रखने के योग्य है। उत्सव मे हम लोग किसी भूत वृत्तान्त का अथवा किसी धार्मिक तत्त्व का उत्साह पूर्वक सहर्ष स्मरण करते हैं, और व्रत मे हम अपना जीवन उच्चतर बनाने के लिए किसी दीक्षा को ग्रहण करते हैं।

सत्यनारायण की कथा श्रवण करने और स्वादिष्ट प्रसाद

भक्षण करने मात्र से कहा जायगा कि सत्यनारायण का उत्सव हुआ पर वह व्रत किसी तरह नहीं माना जा सकता। जिसे सत्य-नारायण का व्रत करना हो उसे, सर्वदा, सभी स्थानों में और सभी प्रसङ्गो मे सत्य के आचरण की, और अवसर आ पड़ने पर सभी लोगों को सत्य का महत्त्व समझाकर सत्य का कीर्तन करने की, दीक्षा ग्रहण करनी होगी। यदि इसी तरह व्रताचरण किया जाय तो ही कर्ता को सत्यनारायण-व्रत के करने का फल प्राप्त हो सकता है, अन्यथा नहीं।

संसार मे सभी लोग सामर्थ्य और सम्पत्ति चाहते हैं। धर्म कहता है कि, 'तुम्हे भूतदया और सत्य-आचरण के द्वारा ही सच्चा सामर्थ्य और सम्पत्ति प्राप्त हो सकती है।' पुराणो ने इसी सिद्धान्त को एक सुन्दर रूपक देकर हमारे मन मे बैठाया है। पुराणो का कथन है कि, सामर्थ्य और सम्पत्ति अर्थात् शक्ति और लक्ष्मी, क्रमशः कल्याण की अभिलाषा और सत्य अर्थात् शिव और सत्यनारायण के अधीन रहते हैं; क्योंकि, शक्ति तो शिवजी की पत्नी है, और लक्ष्मी सत्यनारायण की। यदि तुम पति की आराधना करोगे तो पत्नी तुम पर अवश्य ही अनुग्रह करेगी। इस तरह धन, धान्य, सन्तति, और सम्पत्ति आदि ऐहिक लक्ष्मी की इच्छा रखने वाले मनुष्यों को सत्य का अर्थात् सत्यनारायण की आराधना करना इस व्रत मे कहा गया है।

हिन्दू-धर्म और हिन्दू-नीतिशास्त्र मे सत्य का बहुत ही व्यापक अर्थ किया गया है। श्रीवेदव्यास ने महाभारत मे सत्य के तेरह प्रकार कल्पित किये हैं। हिन्दू-शास्त्र और पुराणो को

उलट पलट कर देखा जाय तो परस्पर विलकुल ही विभिन्न ऐसी तीन वस्तुएँ सत्य शब्द मे समाविष्ट होती हैं।

पहली वस्तु—**सत्य अर्थात् यथार्थ कथन**। जो बात जैसी हो, हम उसे जिस स्वरूप मे जानते हो, अथवा जिस स्वरूप मे बनी हुई हमने देखी हो, जिस स्वरूप मे हमने उसकी विवेचना की हो, उसे ठीक ज्यो की त्यो कह देना, इसका नाम है सत्य।

दूसरी वस्तु—**सत्य अर्थात् ऋतम्**, सृष्टि का नियम अथवा किसी भी महाकार्य का विधान। 'सत्य ही से सूर्य उदय होता है' 'सत्य ही से वायु वहता है', सत्य ही से पृथ्वी विश्व को (सव को) धारण करती है', 'सत्य ही से यह लोक चलता है', सत्य ही यज्ञ की प्रतिष्ठा है इत्यादि शास्त्रवचनो मे सत्य का अर्थ अनुलंघनीय नियम, ऐसा होता है।

तीसरी वस्तु—**सत्य अर्थात् प्रतिज्ञा-पालन**। यहाँ सत्य के मानी हैं मुँह से एक वार निकाले वचन का पालन करने की टेक; एक बार मुँह से निकाले वचन को व्यर्थ न जाने देने की टेक। इसी सत्य के लिए कर्ण ने अपने कुण्डल दे दिये थे। इसी सत्य के लिए श्रीराम वनवास गये थे। इसी सत्य के लिए हरिश्चन्द्र ने राज्य का दान कर दिया; और तो क्या, मातृ-भक्त पाण्डवो ने माता के वचन को सत्य करने के लिए एक द्रौपदी के साथ पाँचो भाइयो ने विवाह कर लेने जैसे निन्दनीय कर्म को भी कर डाला। (आज कल हमारे सत्य और स्वामिभक्ति की धारणा अधिक विशुद्ध हो गई है, अपने पुत्र क्या वस्तु प्राप्त कर लाये हैं, इस वात को जाने समझे विना ही, 'पाँचो भाई वरावर वाँट लो' इस तरह माता के मुख से निकले वचन को सत्य करने के लिए यदि

पाँच भाई इस समय विवाह करने को उद्यत हो, तो हम उन्हे सत्य-द्रोही और मूर्ख कह डालेगे। स्वप्न मे ब्राह्मण को—दिया। वचन सत्य करने के लिए प्रजा की मिलकियत-सम्पूर्ण राज्य-को प्रजा महाभयङ्कर सङ्कट डालने वाले एक तामसी ब्राह्मण को सौपने वाले राजा को हम राज-धर्म-भ्रष्ट, श्रद्धा-जड़ और पामर कहेगे। अस्तु। यहाँ तो हम पुरानी धारणा के अनुसार सत्य-नारायण की कथा का रहस्य खोलने चले हैं।)

जन-समुदाय मे दो वृत्तियां खास तौर पर वलवती होती हैं-लोभ और भय। इन दोनो वृत्तियों से लाभ उठाकर सत्यनारायण के कथाकार ने सत्य की महिमा गाई है। यदि आप सत्य का सेवन करें, तो आप को सन्तति और सम्पत्ति आदि सभी सामग्री मिल जायगी, समस्त सङ्कट दूर होंगे और मनोकामनाये परिपूर्ण होगी, यह तो हुआ लोभ। सत्य को भूल जाने से, सत्य को छिपाने से, तुरन्त ही आप के वाल वच्चे मर जायँगे, धन धान्य का नाश हो जायेगा, दामाद पानी में डूब जायगा, यदि राजा किसी का अन्याय से कारागार मे ठूँस देगा तो उसकी राजसत्ता नष्ट हो जायगी और उस पर सभी तरह के सकट उमड़ पड़ेगे; यह हुआ भय।

सत्य का व्रत सव के लिए समान फलप्रद है। सत्यपालन का धर्म सभी वर्णों के लिए है, ऐसा वतलाने के लिए इस कथा मे ब्राह्मण, राजा, वनिया और ग्वाल तथा लकडहारे लाये गये हैं और ऐसा मालूम होता है कि ऊपर वतलाये हुए सत्य के तीनो अर्थ सत्यव्रत मे अभिप्रेत है। साधु और उसका दामाद दोनो अपनी की हुई प्रतीज्ञा को भूल जाते है। इसलिये उन पर सत्यदेव

का कोप होता है। उसी के परिणाम स्वरूप राजा चन्द्रकेतु भी इन दोनों से पराङमुख होता है। इन दुर्दैवी लोगों के स्त्रियों के हृदय मे प्रतिज्ञा-पालन का धर्म-भाव जागृत होते ही तुरन्त चन्द्र-केतु राजा के हृदय में भी न्याय-भाव जागृत होता है। साधु और उसका दामाद चोर-भय से दण्डी वावा के सम्मुख झूठ वोलते हैं। इसलिए हमारे कथाकार उनके मिथ्याभापण के कारण उनके सर्वस्व नाश हो जाने का अनुभव दिखला कर विनाश-भय द्वारा उन्हें सत्यनिष्ठ वनाते हैं। कलावती पति-दर्शन के मोह मे पड़कर सत्यनारायण-व्रत के नियम का भङ्ग करती है। तुङ्ग-ध्वज राजा भी अपनी वर्णोच्चता के अभिमान और सत्ता के मद मे सत्य का अनादर करता है। इससे कलावती का पति और तुङ्ग-ध्वज का राज्य नष्ट हो जाता है। किन्तु उनका वह मोह और वह मद नष्ट हो जाने पर फिर से उनको उनका सौभाग्य प्राप्त हो जाता है, ऐसा वता कर कथाकार लोगो से कहते हैं कि—भाइयो! सच ही वोलो; अपने वचन का भङ्ग मत करो तथा समाज के अथवा नैसर्गिक सर्वव्यापी नियमों का भङ्ग मत करो; उनका उलङ्घन न करो। यदि इस तरह का व्यवहार करोगे तो तुम्हारा ऐहिक और पारलौकिक कल्याण अवश्य होगा; क्योंकि जो सत्य पर चलता है वह—

सर्वान् कामानवाप्नोति, प्रेत्य सायुज्य माप्नुयात्।*

इस लोक-काव्य मे सत्य को सर्वसङ्ग परित्यागी दण्डी

---

* जीते जी मन की सभी कामनाओं को पा जाता है और मरने पर सायुज्य मोक्ष पाता है।

का स्वरूप दिया है, यह बात भी ध्यान मे रखने के योग्य है। सत्यपूर्वक चलने से सम्पूर्ण वासनाओ का क्षय होकर मनुष्य मे संन्यस्तवृत्ति ठँस जाती है, और सत्याचरणी मनुष्य मे अन्त.स्थ वृत्तियो के और बाह्य समाज के नियमन अथवा दण्डन करने की दण्डी शक्ति आ जाती है, यह कवि ने बड़ी सुन्दरता के साथ सूचित किया है। सत्यनारायण की पूजा मे सत्य का स्वरूप और महिमा बतलाने वाले कितने ही श्लोक बड़े उच्च भाव से भरे हुए हैं, उन्हे यहाँ देकर श्रीसत्यनारायण की यथामति की गई इस उपासना को मैं यहाँ समाप्त करता हूँ—

† नारायणस्त्वमेवासि सर्वेषां च हृदि स्थितः।
प्रेरकः प्रेर्यमाणानां त्वया प्रेरित मानसः॥
त्वदाज्ञां शिरसा धृत्वा भजामि जनपावनम्।
नानोपासनमार्गाणां भावकृद् भावबोधकः॥

---

† हे नारायण! आप ही सभी के हृदयों में स्थित हैं, जितने प्रेरक हैं उन सभी के प्रेरक आप हैं, मैं आपही की प्रेरणा से मन में प्रेरित होकर आपकी आज्ञा को शिरोधार्य कर के जन-पावन आपकी उपासना करता हूँ। आप उपासनाओं के अनेक मार्गों के भावों के रचयिता और सभी के भावों के ज्ञाता और भाव जगाने वाले हैं। आपही के अधिष्ठान मात्र से श्रीमती (लक्ष्मी जी) सर्वार्थ-सिद्धि करनेवाली हैं; अतएव मैं उन्हीं को आगे करके अपनी हित-बुद्धि मे आपका भजन करता हूँ। आपके सिवा और दूसरा कोई मेरा रक्षक नहीं, न आपको छोड कर और कोई देवता है। आप के सिवा पवित्र और संरक्षक मैं दूसरे को नहीं जानता। हे देवदेवेश और हे धरणीधर! आपको नमस्कार है। इस भूमण्डल पर आपके सिवा पापों से त्राण करने वाला और कौन है

त्वधिष्ठानमात्रेण, सैव सर्वार्थकारिणी ।
तामेव त्वां पुरस्कृत्य भजामि हितकाम्यया ॥
न मेत्वदन्यस्त्राताऽस्ति, त्वदन्यं नहि दैवतम् ।
त्वदन्यं नहि जानामि, पालकं पुण्यरूपकम् ॥
नमस्ते देवदेवेश, नमस्ते धरणीधर ।
त्वदन्यः कोऽत्र पापेभ्यस्त्राताऽस्ते जगतीतले ॥

इस वाञ्छितार्थफलप्रद श्रीसत्यनारायणव्रत और कथा के इस रहस्य को जो पढ़ेंगे उन्हीं को श्रीसत्यनाराण का कृपा-प्रसाद प्राप्त होगा। यह रहस्य संस्कृत भाषा मे नही लिखा है, अथवा आधुनिक है, ऐसा समझ कर जो इसका अनादर करेंगे उनका सत्यनारायण-व्रत निष्फल होगा। परन्तु जो कोई ध्यान तथा मनन पूर्वक इसको श्रवण कर के सत्यनाराण का व्रत आचरण करेंगे वे—

* यत्कृत्वा सर्व दुःखेभ्यो, मुक्तो भवति मानवः ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो, दुर्लभं मोक्षमाप्नुयात् ॥
इहसद्यः फलं भुक्त्वा, परत्रे मोक्षमाप्नुयात् ।
धनधान्यादिकं तस्य, भवेत् सत्यप्रसादतः ॥
दरिद्रो लभते वित्तं, बद्धो मुच्येत बन्धनात् ।
भीतो भयात् प्रमुच्येत, सत्यमेव न संशयः ॥

---

* सत्यनारायण का व्रत करके मनुष्य सभी दुःखों से मुक्त हो जाता है। वह मनुष्य सब पापों से छूट कर दुर्लभ मोक्ष को पा जाता है। इस लोक में तात्कालिक फल भोगकर परलोक में मुक्ति भी पा जाता है। सत्य की कृपा से उस मनुष्य के धन-धान्य भी होते हैं। इस व्रत से दरिद्री धन पा जाता है, बँधुआ बन्धन से छूट जाता है, डरा हुआ मनुष्य डर से बचाव पाता है, इसे सच जानो, इसमें संशय नहीं।

कलियुग मे हर एक मनुष्य भली और बुरी हर तरह की कामनाओं की सिद्धि के लिए सत्यनारायण-व्रत करने लगा, यह देख कर श्रीमहादेवजी ने फलप्राप्ति के मार्ग मे एक कीलक (कांटा) और अर्गला (अटक ज़ंजीर) डाल दिये है। जो मनुष्य जितेन्द्रिय और सत्यवादी होगा, वही इनका उत्कीलन करके इस व्रत-फल के द्वार को खोल सकेगा। इतिशम्।

गया की महिमा

लोक-पितामह ब्रह्मदेव ने असुर वृत्ति से असुरो को उत्पन्न किया और सद्भाव से देवो को। उन असुरो मे गयासुर महाबली और पराक्रमी था। उसका शरीर बहुत ही मोटा था। असुर का नाम लेते ही महापापी, क्रूर, सभी लोगो को पीड़ा पहुँचाने वाला, इन्द्र पर धाक बैठाने वाला, अप्सराओ को हरण कर ले जाने वाला, मायावी और कपटी जीव का, स्वभाव स्वरूप सामने खड़ा हो जाता है। पर, सभी असुर इसी तरह के नही होते। बलि राजा भी तो असुर ही गिना जाता है। गयासुर भी इसी कोटि का असुर था। इसे पवित्रता की लगन लगी और इसने कोलाहल-पर्वत पर घोर तपस्या आरंभ की।

इसने हज़ारो वर्ष तक श्वास-स्थिर कर तपस्या की। इससे देवगण हमेशा की तरह बहुत ही व्याकुल हुए। नियमानुसार सब देव ब्रह्मदेव के समीप गये, ब्रह्मदेव शंकर के और शंकर विष्णु के समीप। देवताओ के रिवाज के मुताबिक उन्होने श्री विष्णु की स्तुति की। विष्णु ने उनकी घबराहट का कारण पूछा। तब देवताओ ने पुकार मचाई कि गयासुर के भय से हमारी रक्षा करो, रक्षा करो। विष्णु ने उन्हे वचन दिया कि तुम आगे चलो और मै इसी क्षण वहां आकर गयासुर को वरदान देता हूँ।' सभी देवता

लौट गये। विष्णु ने गयासुर से कहा–'वर मॉग ले'। गयासुर ने मॉगा 'देव, ब्राह्मण, यज्ञ, तीर्थ, ऋषि, मुनि, ज्ञानी और ध्यानी सब से मै पवित्र हो जाऊँ।' भगवान विष्णु ने प्रसन्नतापूर्वक 'तथास्तु' कह कर वर दिया और सब देवता एक दूसरे का मुँह ताकते हुए अपने अपने घर चले गए।

अब वहाँ तो 'चौबे गये छब्बे बनने और दूबे होकर आये' ऐसी दशा हो गई। गयासुर का ही पवित्र दर्शन करके, उसका स्पर्श करके, सभी वैकुण्ठ जाने लगे। तीनो लोक खाली हो गये। यमपुरी उजाड़ हो गई। सब यम, इन्द्र आदि अधिकारी लोग ब्रह्मदेव के समीप जा कर शिकायत करने लगे। 'ये लीजिएगा हमारे इस्तीफे। आपका दिया हुआ अधिकार लौटा लीजिए क्योंकि अब हमारा कुछ काम नही रहा।'

यह सङ्घ फिर श्रीविष्णु तक जा पहुँचा। विष्णु तो गयासुर को सनद दे चुके थे, अतएव उन्होने देवताओ को एक युक्ति सुझाई। उन्होने कहा—

'तुम सब गयासुर के पास जाकर यज्ञ करने के लिए उसकी पवित्र देह मॉग लो और उसके शरीर पर ही यज्ञ करो।'

देवगण ब्रह्मदेव को अगुआ बनाकर गयासुर के पास गये। गयासुर ने उनका स्वागत सत्कार किया और उनके कुछ भी कहने के पहले ही उनका कार्य कर देने का वचन दे दिया। ब्रह्मदेव ने कहा—"मै यात्रा करता हुआ सर्वत्र पर्यटन कर आया, किन्तु तेरे शरीर से अधिक पवित्र स्थान मुझे कही न मिला। मुझे यज्ञ करना है, अतएव तू अपना शरीर दे दे"।

गयासुर ने अपने को धन्य माना। उसने ब्रह्मदेव से कहा—

'मेरे माता और पिता दोनो के वंश धन्य हुए। आप ही ने इस शरीर को उत्पन्न किया है, और आप ही ने पवित्र किया है। मुझे निश्चय है कि आपका यज्ञ सभी के उपकार के लिये होगा। 'सर्वेषामुपकाराय यागोऽवश्य भविष्यति'।

इस विशुद्ध भाव से प्रेरित गयासुर शरीर देने मे कब देरी लगाने लगा ? वह तुरन्त वही पर सो गया। सृष्टि-रचयिता ब्रह्म-देव ने यज्ञ की सामग्री और यज्ञ के ऋषिगण वहीं उत्पन्न कर दिये। इतने मुनि उत्पन्न हुए कि जिनकी नामावलि का पार नहीं। गयासुर की देह पर बड़ा भारी यज्ञ हुआ। ब्राह्मणो को दक्षिणा दी गई। गयासुर मर गया होगा यह समझ कर सब ने उसे उठाकर एक बड़े तालाब मे ले जाकर डाल दिया। वहाँ तो वह असुर हिलने चलने लगा! हे भगवन्! अब क्या करे? ब्रह्मदेव ने चकित होकर यमराज से गुहार मचाकर कहा-"तुम्हारे घर मे वह जो भारी धर्म-शिला है, उसे लाकर झटपट इसके सिर पर रख दो, मेरी आज्ञा है। विचार मत करो।'

सिर पर धर्म-शिला के रख देने पर भी असुर हिलने लगा। तब सब देवो ने अपने अपने पैर उस पर रख कर उसे अच्छी तरह से दबा रक्खा तो भी वह दैत्य शान्त न हुआ। अब तो ब्रह्माजी व्याकुल हो गये। विष्णु क्षीरसागर में, सोये थे। वहाँ जा पहुँचे। द्वारपाल ने उनके आगमन की खबर विष्णु को दी। विष्णु ने ब्रह्मदेव को भीतर बुलाकर उनसे आगमन का कारण पूछा। ब्रह्मा ने कहा, 'हमने यज्ञ किया। देव रूपिणी धर्म-शिला उसके ऊपर डाल दी, रुद्रादि सभी देवगण उसके ऊपर बैठ गये, तो भी वह

असुर निश्चल नहीं होता। अब तो आपकी दया बिना काम न चलेगा।"

विष्णु ने अपने शरीर मे से मूर्ति निकाल कर ब्रह्मदेव को दी। उसका भार भी पर्याप्त न हुआ। अन्त मे क्षीरसागर से विष्णु स्वय आये और उस धर्म-शिला के ऊपर खडे हुए। उनके हाथ मे पुराण-प्रसिद्ध गदा थी। विष्णु के साथ गायत्री, सावित्री सरस्वती, लक्ष्मी, सीता, यक्ष, गन्धर्व, इन्द्र और बृहस्पति आदि सभी देव-देवी आकर गयासुर के शरीर पर खड़े हुए, तब जाकर वह असुर स्थिर हुआ।

जिसने 'सर्वेषामुपकाराय' अपने शरीर-सहित सभी कुछ दे डाला था, उसके हृदय को इस कपट से आघात पहुँचा। उसने वेदनायुक्त अन्तःकरण से देवताओ से पूछा—'मुझे तुम लोगो ने इस तरह क्यो धोखा दिया? मैंने तो अपना निर्मल शरीर ब्रह्म-देव को यज्ञ करने के लिए दिया था। क्या मैं श्रीविष्णु के वचन-मात्र ही से निश्चल न हो जाता, जो तुमने और विष्णु ने अपनी गदा से मुझे इतना पीडित किया? खैर, यदि मुझे पीड़ित ही करना निश्चित हुआ हो तो, मै इतना ही चाहता हूँ कि इससे भी सब सदा सन्तोष पावे।'

ऊचे गयासुरो देवान्, किमर्थं वञ्चितोह्यहम्।
यज्ञार्थं ब्रह्मणेदत्तं, शरीरममलं मया॥
विष्णोर्वचनमात्रेण, किं न स्यां निश्चलोह्यहम्।
यत्सुरैः पीडितोऽत्यर्थं, गदया हरिणा तथा॥
पीड्यश्च यद्यहं देवाः, प्रसन्नाः सन्तु सर्वदा॥

गया-महात्म्य में यह नहीं लिखा कि यह सुनकर देवगण

लज्जित हुए या नहीं ? किन्तु उन्होंने गयासुर से कहा—'हम तुझ पर प्रसन्न हुए हैं, वर माँग ।' उसने माँग लिया कि—'जब तक यह पृथ्वी. यह पर्वत और ये चन्द्र, सूर्य, और नक्षत्र है, तब तक ब्रह्मा, विष्णु, महेश और दूसरे देवता, त्रिलोकी के सभी तीर्थ, गङ्गादि नदियाँ सब मेरे सिर पर रक्खी हुई इस शिला पर बने रहे, और वे सब मेरे निमित्त लोगो का कल्याण करें । यहाँ पर जो कोई स्नान, तर्पण तथा श्राद्ध करे उनकी हज़ार पीढ़ी उद्धार पावे, उनका पाप धो जाय । सभी तीर्थ लोगो का मङ्गल करे । अधिक मै क्या माँगू ? आप मे से एक भी देवता यहाँ से न हिले । इतना वचन पालना—'समयः प्रतिपाल्यताम् ।'

देवो ने 'तथास्तु' कहा । दैत्य प्रसन्न हो गया और सदा के लिए निश्चल हो गया ।

इस महत्कार्य के कर लेने बाद ब्रह्मदेव ने सब देवताओ के देखते २ वह सारी जमीन और पाँच पाँच गाँव ब्राह्मणो को दे दिये, सभी सामग्रियों समेत घर बाँध दिये, कामधेनु, कल्पवृक्ष और पारिजात आदि वृक्ष दिये, दूध की नदियाँ दी, घी के तालाब दिये, शहद के कूए दिये, दही के सरोवर दिये, अन्न के पर्वत दिये, भक्ष्य भोज्य फलो की सुविधा कर दी और ब्राह्मणो से कहा, अब आप लोग किसी से कुछ माँगना नहीं, गदाधर को प्रणाम करके ब्रह्मदेव ब्रह्मलोक को चले गये ।

परन्तु ब्राह्मणो से रहा न गया । उन्होंने धन लेकर यज्ञ करना आरम्भ किया । यज्ञ का धुआँ स्वर्ग-लोक तक पहुँचा, तब ब्रह्मा ने वहाँ आकर वह सब छीन लिया ।

ब्रह्मा ने 'तुम लोग सदा लोभी ही रहोगे,' ऐसा कह कर विप्रो

को शाप दिया। ब्राह्मण रोने लगे, और कहने लगे कि, "हमारे निर्वाहार्थ कुछ तो व्यवस्था कर दीजिए" ब्रह्मा ने दया कर कहा—'अब तो भीख माँगने पर ही तुम्हे कुछ मिल सकेगा तुम्हारे सिर पर सदा तीर्थ-गुरुत्व ही रहेगा। लोग तुम्हारी ही पूजा द्वारा मेरी पूजा करेंगे।' इन्ही ब्राह्मणो के वंशज गयावाल पण्डे हैं।

* * * * *

ऐन वक्त पर ब्रह्मदेव को जिस धर्मशिला का स्मरण हुआ, उसका क्या महात्म्य है ?

एक पवित्र साधु की धर्मव्रता नाम की कन्या थी वह सर्वलक्षण सम्पन्ना थी। गुणों मे लक्ष्मी से भी बढ़ चढ़ कर थी। ब्रह्मदेव के परम तपस्वी पुत्र मरीचि के साथ उसका विवाह हुआ था। बुढ़ापे मे एक दिन मरीचि वन मे फल-फूल लेने गये थे वहाँ से थक कर आये। धर्मव्रता थके हुए पति के पैरो मे घी की मालिश करने लगी। ज्यो ज्यो थकान उतरती गई, त्यो त्यो ऋषि को नींद आने लगी। इतने में वहाँ ब्रह्मदेव आये। सती धमव्रता ससुर को देखकर उठी, क्योंकि वे गुरु के भी गुरु थे। वहू ने उन्हे चरण-प्रक्षालन करने के लिये पानी दिया, पूजा की, और एक उत्तम शय्या बिछा दी। इतने मे मरीचि उठे। उन्होने जब देखा कि पत्नी पास मे नहीं है तो, तुरन्त क्रोधाविष्ट होकर शाप दिया कि, 'तू मेरी आज्ञा बिना पाँव दाबना छोड़ कर चली गई, इसलिये जा, शिला हो जा' सती को बहुत खराब लगा। उसने कहा, 'जब घर मे पिता आवे तब उनकी सेवा-पूजा करने का काम आपका था। वही काम आपकी धर्मपत्नी होने के कारण मैंने किया, इसमे मेरा क्या अपराध ?; मरीचि ऋषि अपनी भूल को समझ गये।

दोनों मिलकर श्रीहरि की शरण गये और प्रार्थना की कि, 'भगवन्! हमारी रक्षा कीजिए।' इतने मे ब्रह्मदेव भी निद्रा से जगे। सब ने सती की तपस्या की प्रशंसा मुक्त-कण्ठ से की। किन्तु कहा कि, 'ऐसे पति के शाप को व्यर्थ करने की शक्ति हम किसी मे भी नही है। इसलिए तू ऐसा कोई दूसरा वर माँग ले जिस से धर्म की रक्षा हो।' सती ने माँगा कि, 'यदि आप लोगो मे पति का शाप दूर कर देने की शक्ति न हो तो इतना ही वर दीजिए कि, नदी, नद, सरोवर, तीर्थ, देव, ऋषि, मुनि, प्रधान देवता और यज्ञ-क्षेत्र मुझ मे आकर निवास करे। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में मै पावनी शिला बनूँ। मेरा दर्शन करके लोग पाप और उपपातक सभी से छूट जायँ। जो मनुष्य शिला पर श्राद्ध करे, उन्हे और उनके वंशजो को विष्णुलोक मिले और जब तक यह ब्रह्माण्ड रहे, तब तक वह शिला भी बनी रहे।' देवो ने उसे वैसा ही वर दिया किन्तु फिर पछताये। उस शिला को छू छू कर सभी लोग वैकुण्ठ जाने लगे। यमराज घबराये। उन्होने अपना अधिकार और यमदण्ड ब्रह्मदेव को सौपा और कहा, ' अब तो मेरा काम ही नही रहा।' ब्रह्मा ने यमराज से कहा, 'उस शिला को उखाड़ कर तुम अपने घर मे रख लो, तो काम बन जायगा, उस समय से यमराज फिर लोगो का शासन करने लगे और लोगो मे धर्म-शिला की कीर्तिमात्र रह गई।

गयासुर के शरीर पर यज्ञ किये बाद भी जब गयासुर फिर से हिलने लगा तब ब्रह्मदेव ने यमराज के पास से यही शिला माँग ली थी। उस शिला मे सभी तीर्थों की स्थिति होने से वह बहुत ही भारी और अति पवित्र हो गई थी।

श्रीविष्णु गयासुर के शरीर पर जिस गदा को लेकर खड़े हुए थे, उसकी भी कथा है। ब्रह्मदेव ने वज्र से भी अधिक दृढ़तर गद नामक असुर से उसकी हड्डियाँ माँग ली थीं। उन हड्डियों की एक वज्रगदा विश्वकर्मा से ब्रह्मा ने तैयार कराई थी और हेति नामक महा बलवान राक्षस को मारने के लिए श्रीविष्णु को दी थी, क्योंकि उस राक्षस को स्वयं ब्रह्मदेव ही ने वर दिया था कि वह देवों के शस्त्रास्त्रों से न मर सकेगा।

ऐसे ऐसे प्रसङ्गों के कारण प्रसिद्ध हुई भूमि पर—

लोकानां रक्षणार्थाय, जगतां मुक्तिहेतवे।

श्री आदि गदाधर, लक्ष्मीजी के साथ खड़े हैं। जो लोग वहाँ यात्रा के निमित्त जाते हैं, उनके मन की अभिलाषायें तृप्त होती हैं। शास्त्र में इतना अवश्य लिखा है कि वहाँ जाने वाले को ब्रह्मचारी और संयमी अवश्य होना चाहिए। शुद्ध और सन्तुष्ट रहना चाहिये, दान न लेना चाहिये, अहंकार से निवृत्त रहना चाहिए, जितेन्द्रिय और दानशील होना चाहिए; ऐसा होने ही से उसे तीर्थ-फल प्राप्त हो सकता है।

धर्मव्रता को शाप देने के कारण महादेव जी ने मरीचि को शाप दिया कि 'जा, तू दुखी हो'। फिर मुनि के पश्चात्ताप को देख कर उस शाप का परिहार उ:शाप दे दिया कि 'गया में तेरी मुक्ति होगी'। मरीचि ने शिला के समीप बैठकर घोर तपस्या की। महा-देव जी के शाप से मरीचि काला हो गया था, वह तपस्या से शुक्ल हो गया और श्रीविष्णु के वर से स्वर्ग-लोक को चला गया।

जो मनुष्य इस पुण्य गयाख्यान को श्रद्धापूर्वक पढ़ेगा या सुनेगा उसे सद्‌गति प्राप्त होगी।

इति श्रीवायुपुराणे श्वेतवाराहकल्पे गयामाहात्म्यं सम्पूर्णम्।

* कामंक्रोधं तथा लोभं, त्यक्त्वा यो सत्यवाक् शुचिः।
सर्वभूतहिते रक्तः, स तीर्थफलमश्नुते॥
तीर्थान्यनुसरन् धीरः, पाखण्डं पूर्वतस्त्यजेत्।
पाखंडं तच्च विज्ञेयं, यद्भवेत् कर्मकामतः॥

---

* तीर्थ यात्रा का फल वही पाता है जो काम, क्रोध और लोभ को त्याग दे, सत्य बोले और पवित्र रहे तथा प्राणिमात्र के हित में तत्पर हो। धीर मनुष्य तीर्थों में यात्रा करे तब पाखण्ड का त्याग पहले ही से कर दे। पाखण्ड वही है जो फल प्राप्ति की इच्छा से कर्म किया जाय।

अँगरेज़ी शिक्षा

श्री आनन्दकुमार स्वामी ने अँगरेजी शिक्षा का वर्णन इस तरह किया है:—

'हमारे यहाँ अँगरेजी राज्य की ऐसी विचित्रता है कि जिस वस्तु ने हिन्दुस्थान की भारी से भारी हानि की हो, वही हमें अपने लिए आशीर्वाद-रूप मालूम होती है' इसका यथार्थ उदाहरण है शिक्षा।

अच्छे या बुरे उद्देश से शिक्षा के नाम से जो वस्तु हमें दी जाती है, उसने हिन्दुस्थान के राष्ट्रीय उत्कर्ष पर जितना मर्मघातक प्रहार किया है उतना और किसी दूसरी वस्तु ने नहीं।

आज दिन यदि हम स्वराज्य के लिए योग्य हैं तो इसका कारण वह सुधार नहीं जो शिक्षा के फल-स्वरूप हमने किया है; वल्कि "अँगरेज़ी शिक्षा की पद्धति के द्वारा हमारी राष्ट्रीय संस्कृति और हमारी विशेष संस्थाओं का तिरस्कार तथा नाश हो जाने के वाद और साथ ही राष्ट्रीयता का नाश करने वाली कल्पनाओं की हम में जड़ जमा देने पर भी, हम मे जो कुछ थोड़ा सा राष्ट्रीय जीवन शेष रह पाया है, उसी के कारण हम स्वराज्य के लिए योग्य वने हुए हैं।"

हम भोले और अज्ञानी थे, संकुचित दृष्टिवाले थे, हमारा सारा जीवन तरह तरह के वहमों से ओतप्रोत भरा था, हम संसार

के बारे मे कुछ भी न जानते थे, हमने स्वतन्त्रता का स्वाद नहीं चखा था, थोड़े मे कहे तो हम जीने के अयोग्य थे, ऐसे समय मे अॅगरेज़ी शिक्षा ने आकर हमारा उद्धार किया, यह आमतौर से माना जाता है। यदि कोई अॅगरेजी शिक्षा पर ऐतराज करता है तो उसके हिमायती कहते हैं कि भाषा ने कौन सा पाप किया है? जैसी संसार की अनेक भाषाये हैं, वैसी ही अॅगरेज़ी भी है। इतना ही कि वह अधिक परिष्कृत और समृद्ध है; ज्ञान का एक भी विषय ऐसा नहीं कि जिस पर अॅगरेज़ी भाषा मे पुस्तके न हो और अॅगरेज तो बिल्ली की तरह संसार के सभी प्रदेशो मे संचार करने वाली एक जाति है, इसलिए अॅगरेज़ी भाषा के कारण हमारा परिचय संसार के साथ बढ़ता है। अॅंगरेज़ी शिक्षा सभी तरह आशीर्वादरूप ही सिद्ध हुई है। बम्बई-सरकार के वर्तमान शिक्षा-मन्त्री ने एक बार कहा था कि ऐसे हिन्दुस्थान की तो कल्पना की जा सकती है, जिसमे अंगरेज न हो किन्तु ऐसा हिन्दुस्थान कल्पना मे भी आना कठिन है, जहाँ अॅगरेज़ी भाषा न हो।

ये उद्गार अॅंगरेज़ी-शिक्षा के विजय के सूचक हैं। जो काम डायर जैसे अधिकारियो की गोलियो से न हो सका, वह अॅगरेज़ी शिक्षा ने कर दिखाया है। लोग कहते है, "भाषा ने कौन सा पाप किया है?" किन्तु भाषा का अर्थ केवल व्याकरण और शब्दकोश मात्र ही नहीं, वरन् भाषा का अर्थ है भाषा के बोलने वालो का स्वभाव, उनका धर्म, उनकी समाज-सम्बन्धी कल्पना और वे सूक्ष्म सिद्धान्त और प्रणालियाॅ जिनके अनुसार वे सोचते रहते है कि किस बात की प्रशंसा करे और किसकी

निन्दा। भाषा होती है समाज का प्राण, समाज की पूँजी और समाज की विरासत। अँगरेज़ी भाषा मे ही पढ़ाई हो, कोमल अवस्था मे सभी तरह के संस्कार अँगरेजी पुस्तको से ही लिये जायँ, इस आग्रह का सीधा अर्थ है अँगरेज़ो की जाति मे मिल जायँ। हम अँगरेजी राज्य के खिलाफ रात-दिन आवाज़ उठाते रहते है, अँगरेज़ी रहन-सहन हमारे अनुकूल नही, यह भी अब हम जानने लगे है। यह भी हम सुनते है कि पाश्चात्य सुधार मानवी कल्याण की नीव पर स्थित नही है, योरप की दशा हम देख रहे हैं, पर फिर भी हम मानते है कि जिसके भीतर अँगरेजो का स्वभाव और अँगरेज़ो का ही आदर्श भरा है, उसी भाषा मे बच्चो को शिक्षा देना हानिकारक नही।

अँगरेजी शिक्षा के मानी हैं प्रॉटेस्टेण्ट शिक्षा। अँगरेजी शिक्षा का अर्थ है पारलौकिक जीवन के विषय मे लापर्वाह रहने का उपदेश करने वाली शिक्षा। अँगरेज़ी शिक्षा को प्राप्त करनेवाला मनुष्य शायद ही दया करने, ममता रखने तथा मनुष्यता का विकास करने का विचार करता है। उसकी ज़बान पर तो जीवन-कलह, हक़, न्याय, आर्थिक दृष्टि से लाभकारक, प्राकृतिक नियम, इत्यादि शब्द ही सदा रहते हैं। अँगरेज़ी शिक्षा हमे कुटुम्ब-धर्म भुला कर शिकार-धर्म सिखलाती है।

कोई कोई कहते हैं कि कौन आप को मजबूर करता है कि आप अमुक ही प्रकार के विचार रक्खो, यह भी कैसे कहा जाय कि अँगरेजी साहित्य मे उच्च विचार ही नही है? बात सच है। जबरदस्ती नही है, किन्तु मायाजाल है और उच्च विचार किस साहित्य मे नही है? पर प्रश्न यह है कि हमारी दृष्टि के सम्मुख

आदर्श कौन सा रक्खा जाता है ? अश्लील नाटकों मे भी बोध-वचन तो मिल ही जाते हैं, किन्तु उनका प्रभाव नहीं पड़ता, वल्कि विलासी और हीन वृत्ति वनने की प्रवृत्ति होती है। यह उपमा शायद अधिक कठोर होगी। कहने का उद्देश इतना ही है कि जिन लोगो की भाषा के द्वारा शिक्षा के प्रथम सस्कार हम लेते हैं, उनके स्वभाव का असर हमारे ऊपर पड़े बिना नहीं रह सकता। बालको को शिक्षा अपनी ही भाषा द्वारा देने से अपनी संस्कृति के गुण-दोष बच्चो मे उतरते हैं, और यदि शिक्षा की पद्धति सरल और सादी हो तो नई पीढ़ी उसमे से उन्नति के अंश खोज सकती है। परदेशी भाषा द्वारा शिक्षा पाने से परकीय लोगो के गुण-दोष की छाप पड़े विना रही नहीं सकती। और दूसरो के गुणो को हज़म करना कठिन होने के कारण कई बार उनके दोषो ही का अनुकरण होता है। इस तरह एारी चित्तवृत्ति ही भ्रष्ट हो जाती है, सो अलग।

हमने जो अॅगरेजी शिक्षा ग्रहण करना आरम्भ किया सो कुछ अॅगरेजो के धर्म अथवा समाज-रचना-विषयक आदर के कारण नहीं, बल्कि खासकर सरकारी नौकरी प्राप्त करने की लालच से और कुछ अंशो मे स्वच्छन्दता करने के विचार से। इसके बाद अॅगरेजो ने कहा कि, हिन्दुस्थान की समाज-रचना से योरप की समाज-रचना श्रेष्ठ है। अॅगरेजी इस देश के राज्य-कर्ता हुए इसीलिए हमने उनका यह दावा स्वीकार किया। देश और परदेश विषयक ज्ञान मे और भौतिक शास्त्रो मे उनकी प्रगति को देख कर हमारा निश्चय हुआ कि अॅगरेज हम लोगो की अपेक्षा अधिक होशियार हैं। किन्तु होशियार के मानी

सुधरे हुए नही; होशियार के मानी धर्मनिष्ठ नही। यदि हम लोगो में धर्म-तेज ही होता तो भी हम अँगरेजो से चौधिया नही जाते। किन्तु दुर्दैववश उस विषय मे हमारे देश मे आधी रात थी; इसलिए सभी तरह अँगरेजी शिक्षा के फैलाव के लिए वह अनुकूल समय था।

अब अंग्रेजी शिक्षा के कारण हम मे कौन कौन से परिवर्तन हुए हैं, यह देखना चाहिए।

सबसे पहला परिवर्तन तो यह हुआ कि, हम यह मानने लगे कि अपनी आवश्यकताओ को बढाने और रहन-सहन को खर्चीली कर देने मे कोई दोष नही, वरन् उलटा समाज-हित ही है। इसके कारण परदेशी व्यापार बढ़ा और हमारी द्रव्य की थैली में अनेक छेद हो गये।

दूसरा परिवर्तन यह कि, हमारे दिल मे अपने समाज के सम्बन्ध मे तिरस्कार उत्पन्न हुआ, इसी के परिणाम-स्वरूप हम समाज की सहायता की अपेक्षा पैसे की सहायता से सभी काम चलाने की सुविधा खोजने लगे और दिन-दिन समाज मे रहने वाले लोगो का परस्पर सम्बन्ध टूटता गया।

तीसरा एक परिवर्तन यह हुआ कि, पढ़ा-लिखा मनुष्य अपनी साहित्य-सम्बन्धी भूख और प्यास को अँग्रेजी साहित्य के द्वारा ही मिटाने लगा। इससे निज भाषा का साहित्य ताक मे रक्खा रह गया। जहाँ इसका अध्ययन भी न हो, वहाँ उसमे वृद्धि तो हो ही कैसे सकती है ?

चौथा परिवर्तन यह हुआ कि, हम अंग्रेज़ी पढ़ने वाले मनुष्यो को ही श्रेष्ठ समझ कर उन्ही से वाहवाही लेने को आतुर

हो उठे और अपने लेख अँग्रेजी ही मे लिखने लगे। हिन्दुस्थान के शिक्षित समुदाय ने संस्कृत और देशी भाषा की पुस्तको का अँग्रेजी अनुवाद करके अँग्रेजी भाषा के घर मे थोड़ी गुलामी नही की। हिन्दुस्थान को जीतने वाली जाति को हमारे विद्वानों का दिया हुआ यह कर बहुत ही भारी है।

हमने अपनी राजनैतिक हलचल भी अँग्रेजी भाषा ही मे चलाई, जिससे राज्यकर्ता को उत्तम शिक्षा और राज्य-कार्य संचालन-दक्षता भी प्राप्त हुई। उस परिमाण मे हम लोगो को स्वराज्य की कुछ भी शिक्षा न मिली।

अँग्रेज़ी जानने वालो की एक न्यारी ही जाति हो गई है। वे अँग्रेजी न जानने वाले राष्ट्र के साथ समभाव नही रखते, उनके विचारो को समझ नही सकते और अपने विचार उन्हे समझा नही सकते और उनके प्रति कुछ तुच्छ भाव रखना सीखते हैं।

अँग्रेज़ी शिक्षा द्वारा प्राप्त किया हुआ ज्ञान वन्ध्य सावित होता है। वह न तो देशी भाषा के द्वारा दिया जा सकता है न जीवन मे अच्छी तरह उतर ही सकता है। हमारे पुराने संस्कारों के साथ उसका मेल नही बैठता और इसलिए पुराना सव मिटा कर उस जगह पाश्चात्य सृष्टि की एक नकल खड़ी कर देने का वह प्रयत्न करता है। दो ही पीढ़ियो के भीतर, सारे राष्ट्र को सस्कृति की दृष्टि से दिवालिया और भिखारी बना देने का सामर्थ्य इस शिक्षा ने प्रकट किया है।

अँग्रेजी शिक्षा से जीवन में स्वच्छन्दता का तत्व इतना घुस गया है कि समाज में से विवेक और कला दोनो लुप्त हो गई हैं। मानसिक और नैतिक दुर्वलता पर मनुष्य को जो लज्जा

मालूम होनी चाहिये, वह भी जाती रही और ज्यों ज्यों स्वच्छन्दता प्रबल होती जाती है, त्यों त्यों नैतिक आदर्श को नीचे खींचने की ओर पढ़े-लिखे मनुष्यों का झुकाव दिखाई देता है।

हमने अंग्रेजी शिक्षा के द्वारा भौतिक शास्त्रों में कोई भारी वृद्धि नहीं की। इस भारी संस्कारी देश के परिमाण में हमने ऐसा भारी साहित्य भी नहीं उत्पन्न किया जिससे संसार में कृतज्ञता उत्पन्न हो।

परदेश जाना सारे राष्ट्र का उद्देश्य कभी नहीं हो सकता। हजार में एक आध मनुष्य ही शायद परदेश को जाता होगा। उसके लिए सारी शिक्षा का आधार अंग्रेजी भाषा पर रचने के समान दूसरा और पागलपन क्या हो सकता है?

अंग्रेजी शिक्षा पाये हुए सामान्य मनुष्य अंग्रेजी राज्य का चाहे कितना ही द्वेष करते हों, परन्तु अपने आचरण के द्वारा वे अंग्रेजी राज्य को सहारा ही देते हैं। स्वराज्य की हलचल में जिन तीक्ष्ण उपायों का अवलम्बन करना जरूरी है और राष्ट्रीय दृष्टि से जो परिवर्तन करना उचित है, उसमें ये अंग्रेजी पढ़े मनुष्य ही विघ्नरूप हो जाते हैं। पानी के बाहर जो दशा मछली की होती है, वही दशा इन लोगों की अंग्रेजी शिक्षा के वातावरण बिना, हो जाती है।

अंग्रेजी शिक्षा ही के कारण हिन्दुस्थान का राज्य-तन्त्र अंग्रेजी भाषा में चल सकता है और उससे प्रजा पर अधिक अत्याचार होता है और प्रजा को भी वह चुपचाप सहन करना पड़ता है।

अमेरिका का कोई भी मनुष्य जब अपने कुटुम्ब का इतिहास लिखने लगता है तो उसे अपने कुटुम्ब का मूल पुरुष योरप में

खोजना पड़ता है। हमारे अंग्रेजी पढ़े मनुष्य भी जब कभी किसी विषय पर विचार अथवा विवेचन करते हैं, तब उन्हे सर्वदा योरप की परम्परा, वहाँ के अनुभव और वहाँ की दलीलो को बतौर प्रमाण के लेने की आदत पड़ी होती है। इसका यह अर्थ हुआ कि हम अपनी विरासत को छोड़ कर दूसरे की विरासत पर प्रतिष्ठित होना चाहते हैं। यह भी वर्ण-संकरता के समान ही भारी संकट है।

इतनी सब हानि होते हुए भी हम अंग्रेजी पढ़ते है। किस लोभ से? इतने ही के लिये कि कुछ कमाई अधिक हो और राज दरबार मे अधिक अप्रतिष्ठा न सहनी पड़े। परन्तु यह कमाई पर-देशी चीजो का व्यापार कर के अथवा विदेशी सरकार को अत्या-चार करने मे प्रत्यक्ष या परोक्ष रीति से सहायता करके प्राप्त करनी होती है। और जिस तरह कोई मजदूर कलेक्टर साहब का चपरासी हो जाने पर अपनी ही जाति का तिरस्कार करने मे अपने को कृतार्थ समझता है; वैसे ही कुछ कुछ अंग्रेजी पढ़े मनुष्य भी अपने अंग्रेजी ज्ञान से फूलेखाँ बन कर अपने ही समाज के साथ तुच्छता का बर्ताव रखते है। अच्छे संस्कारी मनुष्यो मे ऐसे दोष कम पाये जाते है, और उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा के कारण वे दोष ढँक भी जाते है किन्तु इस परिस्थिति के कारण देश का अपार तेजोवध होता है। सारांश मे कहे तो अंग्रेजी शिक्षा को लेकर हम अपनी संस्कृति को गँवा बैठे, समाधान गँवा दिया, समाज की एकता भङ्ग कर दी, स्वदेश का धन विदेश मे भेज दिया, हीन बन कर दूसरो की हर तरह की गुलामी की और स्वराज्य के मार्ग मे एक महा विघ्नरूप हो गये। ये सभी दोष, दीपक के समान

स्पष्ट होने पर भी हम उन्हे देख नही सकते। यह भी इसी शिक्षा का प्रभाव है। हिन्दुस्तान की बरबादी के दूसरे सब कारणो को लोग सरलता से स्वीकार कर लेते है, किन्तु अंग्रेजी शिक्षा भी हमारे सर्वनाश होने का एक बड़ा कारण है, ऐसा कहते ही कितने ही मनुष्य अपना घोर विरोध प्रकट करेगे क्योकि दूसरे कारणो का बुरा असर तो अपनी पोशाक पर, अपनी जेब पर, अपनी कुटुम्ब-व्यवस्था पर या अपनी तन्दुरुस्ती पर हुआ होगा परन्तु अँग्रेजी शिक्षा का प्रभाव तो हमारे मस्तिष्क और हृदय ही के ऊपर पड़ा है।

यहाँ हमारे कहने का आशय यह नहीं कि हिन्दुस्थान मे कोई भी मनुष्य कभी अँगरेजी पढ़े ही नहीं। किन्तु हाँ, शिक्षा मे अँगरेजी को स्थान नहीं दिया जा सकता। शिक्षा के सस्कार पूरे हो जाने पर फिर जिसे अँगरेजी-भाषा का ज्ञान प्राप्त करना हो, वह बेखटके प्राप्त करे। वह उसमें से बहुत लाभ प्राप्त कर सकेगा। यदि शिक्षा मे अँगरेजी को स्थान देना ही हो तो जितना ही देर मे देर करके दिया जाय उतना ही ठीक है। क्योंकि, स्वदेशी, स्वकर्म, स्वधर्म, स्वभाषा और स्वराज्य के संस्कार दृढ़ हो जाने के बाद ही कोई अँगरेजी साहित्य का अभ्यास करे तो उस से वह बहुत लाभ उठा सकता है, और स्वदेश तथा इंगलैण्ड को भी बहुत लाभ पहुँचा सकता है। आज कल अँगरेजी शिक्षा के बदौलत जो हमारी राष्ट्रीय हानि होती जा रही है, उसे तो अति शीघ्र रोक देने की आवश्यकता है।

शिक्षकों को सन्देश

(१)

बहुतेरे शिक्षक मानते हैं कि हम उदर-निर्वाह के लिए शिक्षक का पेशा करते है। उदर-निर्वाह हर एक मनुष्य को करना पड़ता है। राजा को भी उदर-निर्वाह करना पड़ता है। और संन्यासी को भी उदर-निर्वाह करना पड़ता है। यदि मनुष्य धनवान् न हो तो वह जो काम करता है, उसी के द्वारा प्रायः उसे आजीविका सम्पादन करनी पड़ती है, यह बात भी सत्य है किन्तु इससे यह नहीं सिद्ध होता कि हम वह काम उदर-निर्वाह के लिए करते हैं। जो मनुष्य केवल उदर-निर्वाह के लिए ही काम करता है, वह थोड़ी से थोड़ी भी मिहनत करके ऐसे ही उद्योग को पसन्द करेगा जिससे उसका उदर-निर्वाह भली भाँति हो जाय। चोरी और ठगी, ये उद्योग भी उदर-निर्वाह के लिए है तो अवश्य, किन्तु जब हम नीति का विचार करते हैं तो धन्दा पसंद करने मे उदर-निर्वाह के सिवा, दूसरे किसी तत्व को भी शामिल करते हैं।

यह जानने पर भी कि अमुक उद्योग करने से अनायास अधिक द्रव्य मिल सकेगा, हम उसे नहीं करते। हम कहते हैं कि—'हाँ, उसमे लाभ तो है किन्तु वह उद्योग हमे पसंद नहीं।' इस उत्तर

मे हम अस्पष्ट रीति से कर्तव्य का तत्त्व, समाज-सेवा का तत्त्व अथवा ईश्वरीय आदेश का तत्त्व सम्मिलित करते है। पुराने लोग यही कहते थे कि, 'गुजर-बसर तो किसी न किसी तरह होती ही रहेगी, परन्तु ऋषि-मुनियो ने जो उद्योग हमारे पूर्वजो को बतलाया है, हमे वही करना चाहिए, इससे यही मालूम होता है कि हम जो उद्योग करते है वह धर्म-पालन के लिए करते है, यह भाव हम से पुराने लोगो मे अधिक था और इसीसे वे जो उद्योग करते थे, वह धर्म का अनुसरण करके जितना हो सकता था उतना ही करते थे। धर्म का त्याग करके यदि कुछ भी लाभ होता हो तो उसे अभक्ष्य भक्षण समझना और उसका त्याग करना, यह तो सभी स्वीकार करते है परन्तु धर्म-हानि से होने वाले लाभ को ठुकरा देने योग्य निश्चय बल, धर्मविहीन शिक्षा के कारण हम मे से बहुत कुछ घट गया है। जो धर्म के अनुकूल हो, उसीको पसन्द करने की हमारी शक्ति घट गई है। इसके विपरीत यह सिद्ध करने के लिए हम अपनी बुद्धि-शक्ति खर्च करने लगे कि धर्म वही है जो हमे प्रिय लगता है। हमने यह देखा है कि अधर्म आचरण करने की अपेक्षा प्राण-त्याग तक कर देना बहुत अच्छा है। यह भाव हमारे देश के असाधारण साधुओ मे ही नही, किन्तु सामान्य मनुष्यो मे भी बहुत था, धर्म के लिए चाहे जितनी कठिनाइयाँ झेलने की क्षमता हमारी स्त्रियाँ अब भी बतलाती है। यह शक्ति हमारा राष्ट्रीय द्रव्य था, यही हमारा प्राण था। यदि हम इसे गँवा बैठे तो हमारी तर्क-शक्ति, हमारी रसिकता और हमारी सहिष्णुता का मूल्य एक कौड़ी भी नही रहा।

आज कल हम जो शिक्षा लेते या देते है उसमे धर्म, देश-

सेवा और आत्म-बलिदान के पाठ न हो सो बात नहीं, किन्तु उससे अभीष्ट वृत्ति तैयार नहीं होती। धर्म के लिए आत्म-बलिदान करने की भावना तैयार होने योग्य वातावरण ही हम कहीं नहीं देखते। न तो वह शिक्षकों मे है, न माता-पिताओं मे, फिर विद्यार्थियों मे तो वह आवेगा ही कहाँ से!

मै यह नहीं कहता कि आत्म-बलिदान की वृत्ति समाज मे से नष्ट हो गई है। इतने हजारों वर्षों तक हमारे ऋषियो ने जो तपस्या की है, वह नष्ट नहीं हो सकती, किन्तु सच्ची शिक्षा के अभाव के कारण धर्म-वृत्ति के ऊपर गर्द जम गई है। मैं यह भी नहीं कहना चाहता कि यह दोष शुद्ध अँगरेजी शिक्षा मे है। क्योंकि, योरोप की प्रजा, इंगलैण्ड की प्रजा आसुरी-वृत्ति की होने पर भी उस के भीतर आत्म-बलिदान की वृत्ति खूब विकसित होती है। परन्तु जब यहाँ पर अँगरेज़ी शिक्षा पहुँची, जब अँगरेज़ी राज्य यहाँ आया तब देश मे अधर्म, स्वार्थभाव और सुख की लालसा बहुत ही बढ़ गई थी। उसी भाव को उत्तेजना देकर अँगरेज़ो ने अपना राज्य यहाँ स्थिर किया। यदि ऐसा न होता तो पूने मे जब पेशवाई नष्ट हुई, उस वक्त उसके आनन्दोपलक्ष्य मे एलफिन्सटन साहब ने जो दक्षिणा बाँटी, उसे पूना और नासिक के ब्राह्मण कैसे लेते? अँगरेज़ी शिक्षा से बड़ी बड़ी नौकरियाँ मिलती है, द्रव्य सम्पादन करके स्वयं ऐश-आराम कर सकते हैं और हाथ मे जो कुछ थोड़ा अधिकार आता है उस से हम समाज की भी अवहेलना करके मनमाना आचरण कर सकते हैं, यह भावनायें उस वक्त से जो हम लोगो मे घुस पड़ी हैं सो अभी तक थोड़ी-बहुत मात्रा मे बनी हुई हैं। इसी वृत्ति के बदौलत हम परतन्त्र

हुए और जब तक यह वृत्ति रहेगी, तब तक हम परतन्त्र ही रहेंगे।

अँगरेजी शिक्षा के कारण दूसरी एक और खराबी हमारे अन्दर घुस गई है। अँगरेजी राज्य के पहले हम शिक्षकों को गुरुजी कहते थे। विद्यार्थियों के नैतिक और धार्मिक आचरण पर शिक्षकों की दृष्टि रहती थी और शिक्षक भी पक्के धर्म-निष्ठ रहते थे। अँगरेज सरकार ने उदार-भाव बतला कर धर्म के बारे में जो उदासीनता रक्खी, इससे हमारे शिक्षक भी धर्म सम्बन्ध में उदासीन हो गये—अपने आचरण में भी और अध्यापन में भी। अब तो अँगरेजी शिक्षण के द्वारा जो सुखोपभोग और प्रतिष्ठा प्राप्त करने की हम लोग आशा रखते थे, उसका सौवाँ हिस्सा भी न रहा, फिर भी सरकारी शिक्षा और सरकारी नौकरी का मोह जैसा था, वैसा ही बना हुआ है और स्वार्थ-त्याग की भावना दिन-दिन लुप्त होती जाती है। इस स्थिति से निकल जाने का मार्ग प्रजा को बताना शिक्षकों का ही काम है। शिक्षक ही तरुण पीढ़ी के और इस कारण प्रजा के स्वाभाविक गुरु हैं। उन्हें सब से पहले जागृत होना चाहिए और दूसरों को भी जगाना चाहिए।

स्वाभाविक रीति से ही शिक्षकों का उच्च विचार के साथ परिचय होता है। उच्च साहित्य का अर्थ करके दिखलाना ही सदा इनका काम होता है। उन्हें देश-देशान्तर का इतिहास पढना पड़ता है। नीति-शिक्षण के साथ कितने ही अंशों में धर्म की चर्चा करनी पड़ती है। तो क्या स्वयं उनके ऊपर इसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता? हम पुराने पुराणिकों की तो हँसी उड़ाते हैं कि, 'पोथी के बैंगन पोथी में' ही की तरह उनकी हालत होती है। हम इस वृत्ति से मुक्त हैं या नहीं, यह हमें जानना चाहिये। हमारा आचरण तेजयुक्त है या

तेजविहीन, इसका विचार हरएक शिक्षक को करना चाहिये। शिक्षको का व्यवसाय अत्यन्त पवित्र है। जो आदर्श ब्राह्मणों के लिए वताया गया है, वही शिक्षको का भी है। अतएव उनके लिये सबसे अधिक आवश्यक वस्तु तो है—पवित्रता। सरकार की खुशामद से वेतन की वृद्धि होती हो तो उसे शिक्षको को हराम समझना चाहिये। सरकार को प्रसन्न करने के लिये हमे प्रजा को तेजहीन और पामर कदापि न वनाना चाहिये। जिस समाज की हम सेवा करते हैं, वह हमारा है और सरकार परकीय है। समाज का नमक खाकर हमे समाज को दगा हरगिज़ न देना चाहिये।

शिक्षक को यह छान-बीन करने की आज भारी आवश्यकता उत्पन्न हो गई है कि हमारा धर्म क्या है? युद्ध मे विजय मिलने से हमारी सरकार ला-पर्वाह और उन्मत्त हो गई है। वह न्याय और अन्याय को भूल गई है, और मध्य एशिया मे अपना राज्य वढ़ाने की युक्तियाँ भिड़ाने लगी है तथा हम पर भी अपनी सत्ता को अधिकाधिक दृढ़ करना चाहती है। न्याय अथवा प्रजा की भावना-दो मे से एक की भी पर्वाह सरकार नहीं करती। वे लोग भी अव निराश हो गये हैं जो सर्वदा सरकार के साथ मिल जुलकर काम करते थे, जिनकी सरकार पर अपार श्रद्धा थी और सरकार भी जिन पर विश्वास वतलाती थी। हमारे विचारशील नेता अव सरकार के साथ सहयोग करने मे वदनामी समझते हैं। शिक्षको! ऐसे समय हम शिक्षक लोगो का क्या कर्त्तव्य है? हम लोग राजनीति मे प्रत्यक्ष भाग नही लेते, क्योकि राजनीति से भी वड़ा काम हमने हाथो मे ले रक्खा है, परन्तु क्या इससे हम अपना धर्म भूल जायँगे? क्या इससे समाज का नेतृत्व—गुरुपद—हम छोड़ देंगे?

धन की दृष्टि से हम गरीबी मे रहते है, पर क्या इसी के कारण हम दूसरे से हीन-पामर है? सरकार जब तक न्याय से चलतो थो तब तक उसके पास से आजीविका लेकर समाज की सेवा करने मे सम्मान था। जब सरकार ने अपना धर्म और प्रजा की आवश्यकता का विचार त्याग दिया है, तब भी यदि हम नौकरी का मोह न छोड़ें तो मनु भगवान् के कथनानुसार, हमारी नौकरी श्वान-वृत्ति कही जायगो।

शिक्षको के लिए सरकारा नौकरी का त्याग करना सरल से सरल काम होना चाहिए, क्योकि आज भी वे कम से कम वेतन लेकर समाज की भारी से भारी सेवा कर रहे है। सरकारी नौकरी छोड़ करके उसी गॉव मे उन्ही लड़को को पढ़ाने के लिए यदि वे खानगी पाठशाला खोल दे ता उन्हे कम वेतन न मिलेगा। सरकार भी तो आज कहाँ हमे पेट भर कर देती है? यदि हम सरकार की नौकरी से हट कर प्रजा के सेवक बन जावे तो उसमे हम कुछ भी न गॅवाएँगे। सभी तरह से देखे तो इसमे सिवा लाभ के हानि हुई नही। बड़ी बात तो यह है कि समाज मे हमारी प्रतिष्ठा बढ़ेगी। अब प्रजा समझने लगी है। लोग सरकारी नौकर की अपेक्षा प्रजासेवक का अधिक मान करते हैं। प्रतिष्ठा और मान की वृद्धि से हमारा कर्तव्य-ज्ञान भी अधिक जागृत होगा। हमारी बुद्धि और शक्ति भी प्रदीप्त हो जायगी, हमारे लड़को को भी अच्छी शिक्षा मिलेगी। और हम समाज के नेता की हैसियत से अपना कर्तव्य बराबर पालन कर सकेगे। 'बेचारा स्कूलमास्टर' था 'बेचारा स्कूल-मास्टर का लड़का' इस तरह के शब्द सुनने का तो प्रसङ्ग फिर न आवेगा।

यह सब तभी हो सकता है, जब कि हम यह बतला दें कि,

हमारा ज्ञान तेजस्वी है। जनता स्वतन्त्रता के हक प्राप्त करने के लिए कटिबद्ध हो गई है। प्रजा को अब स्वतन्त्र शिक्षा की आवश्यकता है। यदि हम नौकरी के लोभ से प्रजा के पुरुषार्थ में भाग न लेंगे तो प्रजा दूसरे शिक्षक खोज लेगी। ईश्वर का आदेश है, अतएव प्रजा का उत्थान तो होगा और फिर होगा। किन्तु साथ ही इतिहास मे लिखा जायगा कि जब लोगो ने स्वराज्य प्राप्त करने के लिए भगीरथ प्रयत्न किया, तब पतितो मे पतित दल हमारा—शिक्षको का था। उन्होंने अपना ज्ञान बेंच खाया था, अतः प्रजा के अगुआओ को नया ही शिक्षक-वर्ग निर्माण करना पड़ा।

पुराने समय मे भी शिक्षको को वेतन अधिक नहीं मिलता था, परन्तु शिक्षक जहाँ जाता था, वहाँ सम्मान और प्रेम के साथ उसका स्वागत किया जाता था। गाँव के लोग उसकी सब प्रकार की सुविधा की चिन्ता रखते थे। विद्यार्थी उसकी सेवा करने मे अपने को कृतार्थ मानते थे और धार्मिक भाव से शिक्षा का कार्य करके शिक्षक अध्यापक की पदवी प्राप्त कर लेता था। धार्मिक कर्त्तव्य समझ कर अपना आचरण उज्ज्वल रखते हुए, समाज के गुरु-स्थान पर आरूढ़ हो जो अध्यापन का कार्य करता था, वही अध्यापक होता था।

यदि हम फिर वैसी ही वृत्ति धारण करेंगे तो भावी इतिहास मे लिखा जायेगा कि, स्वराज्य-सूर्य के उदय होने के पहले—सब से पहले शिक्षक जागे, उन्होंने अज्ञान पटल को भेद कर दूसरों को जगाया और राष्ट्रीय महोत्सव मे सब से आगे रहे; तो अब बतलाइए कि भविष्य के इतिहास में हम क्या लिखवाना चाहते हैं?

शिक्षकों को सन्देश

(२)

मनुष्य अपनी ही शक्ति के अनुसार कार्य करता है; पर कितने ही काम ऐसे होते हैं कि जिन को करने के लिए मनुष्य को हर तरह से पर्याप्त शक्ति-सम्पादन करना अनिवार्य होता है। ऐसा एक काम शिक्षा है, अथवा यो कहना चाहिए कि शिक्षा का काम दिन प्रतिदिन वैसा होता जा रहा है। पुराने समय मे जब कि कुछ निश्चित सामाजिक व्यवस्था थी, चाहे वह भली हो या बुरी, तब शिक्षक का काम सरल था। समाज, शाला से जिस चीज़ की अपेक्षा करता था, वह थोड़ी, सादी और निश्चित थी। प्रचलित समाज-व्यवस्था को कायम रखना और विद्यार्थियों को लिखना और पढ़ना सिखाना, यही शिक्षक का काम था। धार्मिक आचार-विचार का ज्ञान और पालन तथा 'माता-पिता, स्वामी, गुरू' के प्रति आदर भाव उत्पन्न करने के लिए शिक्षक लोग अपनी इच्छा से प्रयत्न करते थे। उस ज़माने मे यह काम सुगम था। पर आज कल तो यही सब से अधिक दुष्कर वस्तु हो गई है, क्योंकि आज दिन सामाजिक और धार्मिक आदर्श के सम्बन्ध मे अराजकता, अव्यवस्था और अनवस्था है।

जब अँगरेज सरकार ने शिक्षा का काम अपने हाथ मे लिया,

तब भी शिक्षकों का कार्य सुगम था, क्योंकि, उस जमाने मे शिक्षा का उद्देश्य बहुत ही सकुचित था—हम लोगो की दृष्टि से अत्यन्त ही संकुचित था। परकीय लोगों का राज्य हुआ है, यदि उनकी भाषा सीख लेगे तो अच्छी नौकरी मिल जायगी; फिर अँगरेज लोग वाणिज्य-वृत्ति वाले है, उनके साथ व्यापार भी करना ही पड़ेगा, वहाँ भी यदि अँगरेजी बोलना जानते हो तो अधिक मुनाफ़ा प्राप्त कर सकेगे, बस, यही हमारा उद्देश्य था। अब भी बहुतेरे लोग इसी उद्देश्य से अँगरेज़ी शिक्षा लेते हैं।

अब सरकार के उद्देश की भी छानबीन करनी चाहिये। अपनी राज्य-पद्धति के अच्छी तरह अमल मे लाने लायक ऑगरेज़ी जानने वाले नौकरो की आवश्यकता प्रारम्भ मे सरकार को थी, इसी उद्देश्य से सरकार ने यहाँ शिक्षा आरम्भ की। परन्तु पीछे सरकार ने शिक्षा की वृद्धि अधिक व्यापक उद्देश से की है। राजा और प्रजा मे जितनी अधिक एकता हो उतना ही राज्य-कार्य सरल होता है। इसलिए या तो राज्यकर्ता को प्रजा के सामाजिक आदर्श और उनकी मनोरचना के साथ मिल कर एक रूप हो जाना चाहिए, या फिर प्रजा को ऐसी शिक्षा देनी चाहिए कि, प्रजा का जीवन-आदर्श, उसकी मनोरचना—विचार-पद्धति शासको के अनुकूल हो जाय। सरकार ने यह दूसरा उद्देश्य ही पसंद किया और उसी का अनुसरण भी किया, इसमें न तो किसी तरह की शङ्का है और न आश्चर्य।

अब हम स्वराज्य माँगते हैं। इसका यही अर्थ हुआ कि सरकार इस दूसरे उद्देश के स्थान मे पहला उद्देश दृष्टि के सम्मुख रक्खे और उसी के अनुसार राज्य-कार्य मे परिवर्तन कर दे। अब

प्रजा जग गई है और संसार के साथ हिन्दुस्थान को भी युगान्तर (Reconstruction) करने का प्रसग प्राप्त हुआ है। अतः अब शिक्षको का काम बहुत ही कठिन और महत्त्व पूर्ण हो गया है— फिर वह शिक्षक चाहे कालेज के प्रोफेसर हो, चाहे देहाती स्कूल के पण्डित जी। ट्रेन्ड हो या अनट्रेन्ड, कन्या पाठशालाओ के हो या अन्त्यज पाठशालाओ के। आज शिक्षा का उद्देश लड़के पढ़ना और लिखना सीख ले, तथा सवाल लगा ले, इतना ही नहीं रहा केवल ॲगरेजी समझ ले और बोलने चलने लग जायॅ सो भी नहीं, मनमाना व्यवसाय करके द्रव्योपार्जन कर लेवे, इतना पढ़ने से भी काम न चलेगा। आज तो देश मे राजकीय, सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति हो रही है। ऐसे अवसर पर देश मे जो राजकीय, सामाजिक और आर्थिक आदि तरह तरह की हलचले हो रही है, उनके साथ बिना बहते हुए इन सभी विषयो मे होनेवाले युगान्तर के साथ शिक्षक की परिपूर्ण सहानुभूति होनी चाहिए। यदि अपने पुराने से पुराने आदर्शों का वर्तमान परिस्थिति के साथ सुमधुर संमिश्रण न मिलाया जायगा तो यह सम्पूर्ण शिक्षा व्यर्थ होगी।

हिन्दू-समाज की रचना ऐसी है कि गुरु अथवा शिक्षक पुराने काल से समाज का नेता माना गया है। ॲगरेजी राज्य मे स्कूल-मास्टर ने यह स्थान गॅवा दिया था, इसका कारण यही था कि स्कूल-मास्टर ने शिक्षा का ध्येय बहुत ही क्षुद्र माना था और अपने जीवन-ध्येय को भी उसने बहुत उदात्त नहीं बनाया था। अब ऐसा नहीं चल सकता। हर एक शिक्षक को समझ लेना चाहिए कि समाज का नेतृत्व हमारा अधिकार और धर्म है। हजार

कोशिश करके शिक्षक को इस स्थान का पात्र अपने को बना लेना चाहिए। समाज-धर्म और संसार की वर्तमान साम्पत्तिक अवस्था और साथ ही संसार की राजनीति के साथ भी शिक्षकों का पूर्ण परिचय होना चाहिए। देश की संस्कृति के संरक्षक राष्ट्रीय अगु-आओं ने हर एक विषय पर किस तरह के विचार स्थिर किये हैं, यह भी प्रत्येक शिक्षक को थोड़ा बहुत अवश्य जानना चाहिए। इसके बाद शिक्षक की इतनी तपस्या भी होनी चाहिए कि जिससे समाज उसके नेतृत्व को श्रद्धापूर्वक स्वीकार करले।

हमारे देश मे समाज राजबल और तपोबल इन दो ही बलों को पहचानता है, और खास कर तपोबल की प्रतिष्ठा को वह विशेष मानता है। यह हमारे समाज की विशेषता है। मनुष्य जितना ही वासना के कम अधीन हो, उसका जीवन जितना सादा और जितना संयत हो, उतनी ही उसकी तपस्या भी श्रेष्ठ है। स्वार्थ और विलास के मोह-जाल से मनुष्य जितना ही मुक्त हो, उतना ही वह तपस्वी होता है। हमारे समाज की यही मान्यता है।

ज्ञान और तपस्या इन दोनो का संयोग ही ऐश्वर्य है। यह ऐश्वर्य हर एक शिक्षक के पास होना ज़रूरी है। पुरानी सामाजिक व्यवस्था, पुरानी आर्थिक व्यवस्था और पुरानी राजनीति अब काम नहीं दे सकती। इन तीनों विषयों मे समाज को नया रास्ता बतलाना ही होगा। कई लोग कहते हैं कि शङ्कराचार्य जैसे प्रतिभाशाली स्मृतिकार को ही सामाजिक रीति, आचार और आदर्श मे परिवर्तन करने का अधिकार होता है, जब तक ऐसा पुरुष अवतार नहीं लेता, हमे पुराना ही संग्रह बनाये रखना चाहिए। मै कहता हूँ, यदि ऐसा हो तो बलिहारी है। पर हम प्राचीन बातों को स्थिर कहाँ

रख सके। पुरानी प्रथा का प्राण तो कभी का चला गया है; ऊपर का कलेवर अथवा शव अलबत्ते किसी किसी जगह रह गया है। पर वह भी सड़ रहा है, क्या उसकी दुर्गन्ध नही आती? भाइयो, अब इस अल्पप्राण श्रद्धा को फेक दो। तुम्ही नये स्मृतिकार बनो, कम से कम नये ज़माने के नये स्मृतिकारो को ढूंढ़ तो ज़रूर लो और अनन्य श्रद्धा से उनका अनुसरण करो। मैं नही कहता कि वर्तमान काल के सभी नेता स्मृतिकार है। जिन्होने भारतीय संस्कृति की आत्मा को पहचाना है, जो प्राणवान है, जो इस समय की निर्बल दशा मे भी राष्ट्र की सोई हुई शक्ति पर श्रद्धा रखते है, और जो उसे जागृत करने के लिए प्रयत्न करते है, वही हमारे स्मृतिकार है। उनकी सूचित स्मृति को स्वीकार करो, नहीं तो जीवन-कलह की नास्तिक स्मृति अपना साम्राज्य स्थापित करेगी। अर्थशास्त्र की निर्घृण स्मृति जारी हो जायगी। हो क्या जायगी? होने लग गई है। धर्म का लोप हो रहा है, असुर-वृत्ति की विजय हो रही है। देवो को सहायता देने के लिए कटिबद्ध हो जाओ; भविष्य शिक्षको के हाथ मे है।

'वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः।'

इस पुराने स्मृति-वाक्य को नये सिरे से लिखो और कहो

'प्रजानां शिक्षको गुरुः।'

शास्त्र मे ऐसा लिखा है अथवा सरकारी कानून ऐसा है, इस तरह की भाषा तुम्हारे मुख मे शोभा नही देती। प्रजा का हित किसमे है और मोक्ष का मार्ग कौनसा है, यह प्रजा को अपनी अथवा तुम्हारे अगुआओ की अधिकार युक्त वाणी द्वारा बतलाओ।

देहात मे रहने वाले देहाती शिक्षको ! तुम्हारे लिए भी यही सन्देश है। तुम्हे पेट के लिए काफी मिलता नहीं, देहात मे भी सरकारी अधिकारीगण तुम्हारी प्रतिष्ठा स्थिर नहीं होने देते, यह मै जानता हूँ तो भी यह सब सहन करके तुम्हे अपना उच्च कार्य पूरा करना चाहिए। स्वराज्यवादियो से मै कहता हूँ, यदि तुम्हे सच्चा स्वराज्य दरकार हो, स्वराज्य का सन्देश घर-घर पहुँचाना हो तो शिक्षकों की दैन्यावस्था को दूर करो। शिक्षको को धन का लोभ न रखना चाहिए, उनका जीवन सादा होना चाहिए, यह बात सच है। पर साथ ही यह भी उतना ही सच है कि उन्हे पेट के लिए काफ़ी रकम जरूर मिलनी चाहिए, अन्यथा शिक्षकों मे पामरता प्रविष्ट हो जायगी। इसलिए ऐसी व्यवस्था जहाँ तक हो अति शीघ्र करो कि जिससे शिक्षको को उदर-निर्वाह के लिए पर्याप्त द्रव्य मिल सके। देश के राष्ट्रीय अगुआओं को चाहिये कि वे भारतीय संस्कृति का राजकीय, सामाजिक, धार्मिक, अन्तर्धार्मिक और औद्योगिक आदर्श क्या है और वर्त्तमाम समय मे किस तरह उस पर अमल किया जा सकता है, यह सब स्पष्ट करके बतलावे। इस से शिक्षक समाज को उचित राह की ओर ले जावेगे। आज का यह युद्ध विराट है। यह इतना उदात्त है कि भारतीय संस्कृति कायम रही तो वह विश्वविजयिनी होगी। शिक्षक हमारे सैनिक हैं। शिक्षक यदि अपने इस कार्य को समझ लेगे तो तुरन्त ही अपने जीवन को धार्मिक बनायेगे। शिक्षको का जीवन धार्मिक होने पर ही हिन्दुस्थान का या संसार का उद्धार निर्भर है।

नया सङ्कल्प

अन्यक्षेत्रे कृतं पापं, पुण्यक्षेत्रे विनश्यति।
पुण्यक्षेत्रे कृतं पापं, वज्रलेपो भविष्यति॥

दूसरी जगह किया पाप तीर्थ मे धुल जाता है, क्योंकि, वह विना जाने किया होता है, और उसमे पश्चात्ताप के लिए अवकाश रहता है। तीर्थ मे जाकर वृत्ति पवित्र होने के बाद और कृत-कर्मों के लिए पश्चात्ताप कर लेने बाद, यदि फिर भी हम पाप के मोह मे पड़ जायँ तो हमे उसमे से कौन सी शक्ति उबारेगी? और इसीलिए शास्त्रकार कहते है कि पुण्यक्षेत्र मे किया हुआ पाप वज्रलेप हो जाता है।

राष्ट्रीय शिक्षा ऐसा ही पुण्यक्षेत्र है। सरकारी अराष्ट्रीय शिक्षा का कड़ुवा अनुभव मिल जाने के बाद उसका पाप धोने के लिए हम राष्ट्रीय शिक्षा की ओर झुके है। निस्सन्देह, हमे इसकी प्रेरणा तो असहयोग से ही मिली है; किन्तु सरकारी शिक्षा का त्याग करते हो असहयोग का कार्य तो पूरा हो गया। सरकार का सम्बन्ध छोड़ कर यदि सरकारी पद्धति पर स्वतन्त्र शिक्षा-पद्धति शुरू की जाय तो असहयोग इसके खिलाफ़ आप से कुछ न कहेगा। परन्तु वर्तमान शिक्षा-प्रणाली मे केवल इतना ही दोप नही है कि उसका संबध सरकार से है। वह हमारे राष्ट्र के लिए ज़रा भी

अनुकूल नहीं; वह तो राष्ट्रीय भावना को नष्ट करनेवाली है। उस शिक्षा ने हमारी संस्कृति को अधमरी कर डाला है। शिक्षित मनुष्यो मे हमारी संस्कृति के प्रति श्रद्धा या आदर न रहा। सरकारी शिक्षा से हमे गुलामी की आदत लग जाती है। तात्कालिक स्वार्थ को छोड़ने जितनी भी त्यागवृत्ति हम मे नही रह जाती। ऐसी शिक्षण-पद्धति को क्षणमात्र के लिए भी हमे जारी रखना न चहिए। अव तक सरकारी शिक्षा से अनेक दोषो के साथ कुछ लाभ होते थे। असहयोग करके हमने उन्हे छोड़ दिया है। अब भी यदि हम सरकारी शिक्षा को जारी रक्खेगे तो वह निष्काम पाप होगा।

यदि राष्ट्रीय शिक्षा को सफल बनाना हो तो शिक्षा का ध्येय वदल देना चाहिए। शिक्षा के विषयो मे परिवर्तन कर देना भी आवश्यक है। अध्ययन-क्रम की रचना मे भी परिवर्तन करना अनिवार्य होगा। अभी तक शिक्षा का मुख्य लक्ष्य रहा—राज्य के सचालन मे सरकार को किस तरह सहायता हो; किन्तु अव से 'स्वराज्य किस तरह शीघ्र मिलेगा' यही उद्देश दृष्टि के सम्मुख रहना चाहिए। अव तक इस वात पर ध्यान दिया जाता था कि नवीन प्रजा राजनिष्ठ कैसे हो; अव से इसी वात का विचार करना चाहिए कि देश की सन्तान धर्मनिष्ठ और देशनिष्ठ किस तरह हो। अव तक शिक्षा के लिए देहात के सयाने लड़के शहरो मे आते थे, अब से शहरो के नवयुवक देश-भक्त देशोद्धार के लिए देहात मे जा वसेगे। अव तक हम अँगरेजी भाषा के द्वारा अपना धर्म, अपना समाज, और अपनी स्थिति आदि विषयो का ज्ञान परदेशियो को देते थे, अव से देश-बान्धवो को ससार-विषयक ज्ञान देने के लिए हम देशी भाषाओं को उन्नत बनावेगे। आज तक शिक्षित दल को

हाथ-पैर चलाना याद नहीं था; और हाथ-पैर चला कर गुजर-बसर करने वाले अभागों को शिक्षा का लाभ नहीं मिलता था, अब से कारीगर मनुष्य सस्कारी दीखेंगे और शिक्षा पाये मनुष्य हाथ-पैर चलाकर अधिक दिन जीयेंगे। अब तक सरकारी नियमानुसार चलने वाले जीवनहीन मास्टरों के हाथ में शिक्षा थी, अब से वे ही मास्टर प्राणवान अध्यापक बनेंगे और अपने नियमों को वे स्वयं ही निर्मित कर लेंगे। आज तक शिक्षक ही पुलिस, न्यायाधीश और जेलर थे; अब से वे बन्धु, मित्र और गुरु बनेंगे। अब से एक ही विषय एक बार हिन्दी मे और फिर लौट कर अँगरेजी मे न पढ़ना पड़ेगा। हर एक विषय अपनी भाषा मे पढ़ने से शिक्षा वन्ध्या न रहेगी। घर मे एक लडका भी पढ़ेगा तो उसकी माँ-बहिनें विद्यार्थी का पाठ घर बैठे सुन सुन कर सस्कारी हो जॉयगी। जिस तरह हम मजदूरों को मजदूरी अधिक देने की हलचल कर रहे हैं, उसी तरह हम प्राथमिक शिक्षा-पद्धति इसी तरह की रक्खेंगे कि जिससे देहात के लड़कों को पूरी शिक्षा मिले।

शिक्षा मे हमारा देश पिछड़ा हुआ है, हमे बहुतेरी चीजों के सीखने की आवश्यकता है, यह सब सच है। पर केवल इसी लिए लड़का बारह और बारह चौबीस वर्ष तक पढ़ता ही रहे, ऐसी स्थिति खड़ी करनी चाहिए। यदि लड़का बीस वर्ष के बाद विद्यार्थी दशा मे ही रहे तो उसकी तेजस्विता फीकी पड़ जाती है, उसकी कर्तृत्व-शक्ति कुंठित हो जाती है। आज देश मे पुरुषार्थी लोगों की आवश्यकता है। शिक्षा का आधिक्य कर के उसका नाश न कर देना चाहिए। विद्यार्थी की बुद्धि सर्वग्राही होते ही उसकी शिक्षा

समाप्त कर देनी चाहिए। उसके बाद अपने खास विषय में प्रवीणता प्राप्त करने के लिए अथवा सर्व सामान्य संस्कार प्राप्त करने के लिए वह भले ही सारा जन्म कोशिश करता रहे। राजकीय, धार्मिक और सामाजिक विषयो मे भी आज जिस तरह स्वतन्त्रता की आवश्यकता है; उसी तरह शिक्षण मे भी विद्यार्थियों को अधिक से अधिक स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। विद्या वही है जो स्वतन्त्रता को प्राप्त कर दे। इन सभी आदर्शों का विचार करके हमे राष्ट्रीय शिक्षा का आरम्भ करना चाहिए। जड़ता से पुरानी लीको मे न खिच जाँय, ऐसा सङ्कल्प करके आइए, हम अपने इस कार्य का आरम्भ करे।

विद्यार्थि-वर्ग को

एक मनुष्य अँधेरी रात मे जङ्गल मे चलते-चलते एक करार के ऊपर से नीचे गिर पड़ा। 'सर्वनाश हो गया' यह जान कर वह मूर्च्छित सा हो गया। इतने में करार पर एक ओर उगे एक पेड़ की डाल उसके हाथ मे आ गई। उसे पकड़ कर वह लटकता रहा। डाल मे काँटे थे और वे उसे चुभते थे। डाल पर की चीटियाँ उसे काटती थी। किन्तु वह सोचता—यदि मै इस डाल को छोड़ दूँगा तो फिर नीचे न जाने कितने गहरे गड़हे मे जाकर गिरना होगा, और निश्चय करता कि इन सब क्लेशो को सह कर टँगे रहने मे ही कुशल है। लगभग सारी रात उसने इसी तरह बिताई। अन्त मे उसे हाथ की वेदना असह्य हुई और देह की सम्पूर्ण शक्ति समाप्त हो गई सी मालूम हुई। 'अब तो मैं अवश्य ही मरा' यह खयाल आते ही हाथ डाल से छूट गया और वह फिर गिर पड़ा, पर कितना? ठीक एक हाथ भर! हाथ ही भर पर जमीन थी। उसने सारी रात व्यर्थ ही दुःख उठाया!

सरकारी शिक्षा छोड़ देने से हमारा सर्वनाश हो जायगा, ऐसा मान कर हमारे नवयुवक राष्ट्रीय प्रतिष्ठा को खोकर शिक्षा ले रहे हैं और उससे होनेवाली सभी हानियो को सह रहे है। देश पर विश्वास रख कर, राष्ट्रीय नेताओ के शब्दो पर विश्वास रख कर,

परममङ्गल परमेश्वर के ऊपर दृढ़ विश्वास रख कर वे यदि इस प्राण-हारी शिक्षा को छोड़ देंगे तो एक हाथ पर—एक ही हाथ पर—स्वराज्य और सुख रक्खा हुआ है। आज सरकारी शिक्षा से हमे क्या मिलता है? कितने ही को—बहुत ही थोड़ो को—अच्छी सरकारी नौकरी। दूसरे थोड़ों का अदालतो मे जाकर लोगो को लडा देने का व्यवसाय चलता है। बाकी के सब अपनी डिग्री-पदवी हाथ मे लेकर चाहे जिस भाव उसे भुना लेने को घूमते है और अन्त मे अपने को नीलाम के भाव जाने देते हैं। अपढ़ दैनिक मजदूर को जितना मिल जाता है, उतना मैट्रिक पास को नही। मामूली राज या बढ़ई को जितना मिल जाता है, उतना प्राप्त करने मे डिग्री वाले के सफेद बाल हो जाते हैं। यह तो हुई आर्थिक स्थिति की बात। इन शिक्षितो की तन्दुरुस्ती की तो बात ही क्या कहे? सवेरे के पहर डाक्टर के घर छ. आने देकर चौबीस घण्टो के लिए 'जीने का परवाना' प्राप्त किये बिना दुनिया के परदे पर घूमने-फिरने तक की इनके लिए रुकावट। बाकी रही संस्कारिता की बात। शिक्षा से अपनी दृष्टि विशाल और उदार होती है, देश-विदेश की स्थिति समझने मे आती है, स्वदेश के प्रति कर्तव्य का ज्ञान होता है, समाज-सुधार करने की हिम्मत आती है, इसी तरह की बाते अपने शिक्षित वर्ग और उनके कहने से दूसरे भी इतने दिन तक मानते रहे। परन्तु सम्पत्तिशास्त्र पढ़ लेने पर भी हिन्दुस्तान की सम्पत्ति मे शिक्षित वर्ग एक कौड़ी भी न बढ़ा सका। धर्म और नीति की मीमांसा पढ़ लेने पर भी अन्याय का सामना करने जितनी नीतिमत्ता या चरित्र-बल उस वर्ग ने नही प्रदान किया। समाज-बन्धन का महत्त्व जानते हुए भी समाज में

प्रवेश करके, समाज की एकता सम्पादन करके, समाज को उच्च पद पर चढ़ाने का कोई प्रयत्न उनके हाथ से नहीं हुआ। अँगरेज़ सरकार के ख़िलाफ़ भाषण करने मे और लेख लिखने मे वे अवश्य अग्रणी होते हैं, फिर भी अँगरेज़ी राज्य स्थिर रखने मे अपनी प्रतिष्ठा, अपनी नीतिमत्ता, अपना धर्म और संस्कृति आदि सभी की आहुति देने के लिए वे ही सब से पहले और सब से अधिक तैयार होते है। पिछले तीस चालीस वर्षों का हमारा पुरुषार्थ सामाजिक वन्धन तोड़ कर समाज को विश्रृंखल करने मे और सरकारी बन्धनो को दृढ़तर करने मे खर्च हुआ है। बुद्धिपूर्वक हो या अन्ध-भक्ति से हो, पर हमारा जन-समूह अपनी सादगी, उद्योग और संयम की रक्षा करता रहा। हम शिक्षितो ने पहले सयम छोड़ा। विलास की जितनी चीजे विलायत से आईं, उनको अंगीकार करने मे ही हमने नीतिबल बताया और माना। इस तरह हम समाज के बिगाड़ने के कारण बने। धर्म का बन्धन घटा कर कानूनों के ऊपर हम अधिक आधार रखने लगे। देशी कारीगरो को भूखो मार कर बिलायती कारखानो के हम वफ़ादार ग्राहक बने। इस तरह कहाँ तक गिनती लगावे? अब प्रायश्चित्त करने का प्रसङ्ग आया है। यदि हम सच्चे दिल से प्रायश्चित्त करेगे तो अब भी उद्धार का मार्ग खुला है। जो पाश्चात्य सस्कृति के पञ्जे मे जा फँसे हैं, उन्हे नौ महीनो मे स्वराज्य प्राप्त कर लेना अशक्य मालूम होता है। पर वे यह नही जानते कि सारा राष्ट्र उन के समान बिगड़ा हुआ नहीं है। वह मोह-निद्रा मे सोया है। उसे जगाने मे देर न लगेगी। सोया हुआ निरोग मनुष्य और

जागता हुआ रोगी मनुष्य इन दोनो मे जितना अन्तर है, उतना ही अन्तर जन-साधारण और पढ़े-लिखो के बीच है।

पढ़े-लिखे समुदाय को प्रायश्चित्त करना चाहिए और आज पर्यन्त उसे मिले समाज के नेतृत्व को सार्थक और सुशोभित करना चाहिए। यदि वे ऐसा न करेंगे तो दूसरे अधिक श्रद्धावाले, अधिक प्राणवाले अगुआ आगे बढ़ेंगे—बढ़े बिना न रहेंगे। ईश्वर ही की इच्छा है कि यह सनातन राष्ट्र संसार को दुर्दशा से उबारे और इस ईश्वर-निर्दिष्ट आदेश को सिद्ध करने का सामर्थ्य-सम्पादन करने के लिए पहले स्वयं अपना उद्धार करे।

इस स्वाभाविक नेतृत्व को लेने के लिए राष्ट्र आज विद्यार्थी-वर्ग को आह्वान करता है, क्योंकि समाज मे उनका स्थान समाज की खास प्रीति और ममता का पात्र है। उनमे संस्कारिता है, उमङ्ग है, सच्ची श्रद्धा है। शिक्षित बड़े लोग जो नहीं देख सकते उसे वे देख सकते हैं, जो वे न कह सके वह वे कह सकते है। इसीलिए आज राष्ट्र उनको आह्वान करता है। जापान के मिकाडो ने रूस के साथ युद्ध की घोषणा करते समय जिस गंभीरता और श्रद्धा से राष्ट्र का भविष्य अडमिरल टोगो और मार्शल ओयामा के हाथ में सौप दिया था, उसी गंभीरता से आज राष्ट्रीय महासभा विद्यार्थीवर्ग को राष्ट्र का भविष्य हाथ मे लेने की आज्ञा करती है। विद्यार्थी-वर्ग इस विश्वास का पात्र साबित हो। जापानी वीरो के समान शास्त्रीय श्रद्धा (Scientific fanaticism) प्रकट करे और नौ महीनो के भीतर स्वराज्य प्राप्त कर लेने का श्रेय ले।

स्त्रैण शिक्षा

स्त्रियो को अवला कहते हैं, स्त्रियाँ भी इस नाम के धारण करने मे कुछ अभिमान मानती हो ऐसा दीखता है। क्या ईश्वर ने स्त्रियो को अवला ही रहने के लिए उत्पन्न किया होगा ? इस प्रश्न का एक ही उत्तर हो सकता है 'न'। फिर भी लोगो की ओर से—स्त्री और पुरुषो की ओर से—'न' यही उत्तर आवेगा, ऐसा विश्वास कौन दिला सकता है ? हम लड़कियो को वचपन से ऐसी ही शिक्षा देते है कि, पुरुप तो पुरुष, और औरतें तो औरते ही। स्त्रियाँ स्वतन्त्र रही नहीं सकतीं। अनाथ और विधवा स्त्री तो दुखी से भी दुखी समझी जाती हैं, क्योंकि उनका कोई स्वामी नही, पति नही। कही वाहर यात्रा करने जाना हो तो स्त्री अकेली जा ही नहीं सकती। कोई उसका संरक्षक साथ होना चाहिए। यदि स्त्री अकेली घूमे-फिरे तो वह न केवल अरक्षित मानी जाती है बल्कि ऐसा काम स्त्री को न शोभनेवाला माना जाता है। "न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति"। उसका कोई न कोई संरक्षक—त्राता सदा होना ही चाहिए। इस तरह के विचार समाज मे ऐसे रूढ़ हो गये हैं कि वे अत्यन्त स्वाभाविक मालूम होते हैं।

पशु-कोटि मे मादा अवला नही होती, पक्षियो मे भी माद दुर्वल नही होती। वह अकेली ही अपनी और अपने वाल-वच्चे

की रक्षा कर सकती है। परन्तु पुरुष ने स्त्री को ऐसी दृढ़ शिक्षा दी और स्त्री ने भी उसे ऐसी श्रद्धा से ग्रहण किया कि उसकी अपने ऊपर की श्रद्धा बिल्कुल ही उड़ गई। हमने ऐसी स्त्रैण शिक्षा बहुत ज़माने से जारी रक्खी होगी और उसीके परिणाम-स्वरूप आज आधा देश अज्ञान, जड़ और भार रूप हो गया है।

परन्तु प्रकृति का नियम ऐसा है कि हम जैसी शिक्षा देते हैं, हमे भी वैसी ही लेनी पड़ती है। जो स्त्रैण शिक्षा देते है उनकी मनोरचना भी समय पाकर स्त्रैण हो जाती है। 'न स्त्री स्वातन्त्र्य मर्हति' का स्त्रैण अर्थ करने वाले पण्डितो ने धीरे धीरे स्वयं स्त्रैण होकर एक स्त्रैण सूत्र उपजा डाला—'अनाश्रया न शोभन्ते, पण्डिता वनिता लता:'। ऐसी स्त्रैण शिक्षा के कारण हम बिना ही परिश्रम, भोजन मिलने का इच्छा रखते हैं। इसी शिक्षा के कारण युवावस्था मे भी पेन्शन देने वाले की खोज मे फिरते हैं। इसी शिक्षा के कारण हम अफ़गान लोगो से भय रखते हैं और इसी शिक्षा के कारण हम मोपलो के पागलपन से घबरा कर ब्रिटिश सगीनो का आश्रय लेते हैं—उनका स्वागत करते हैं।

पर नही, ऐसा कहने मे अन्याय होता है। यह सभी कल तक ही था। आज तो जिन्होने स्त्रैण शिक्षा का त्याग किया है वे अपने पसीने की बदौलत मिली रोटियो को ही मिष्टान्न मानते हैं। वे अफ़गान को भाई के समान समझते है और मोपला भाइयो पर उनकी इतनी श्रद्धा है कि पहले तो वे इस बात को बिना विश्वसनीय प्रमाणो के मानने के लिए तैयार ही नहीं कि मोपलाओ ने भारी अत्याचार किया होगा और यदि मोपलाओ ने जो कुछ भी किया हो तो उससे दशगुना अत्याचार करने पर

भी उसका इलाज कौटुम्बिक नियमानुसार ही वे करना चाहते हैं। संस्कृत-काव्यो मे ऐसा वर्णन आता है कि जब आकाश मे वादलो की गड़गड़ाहट होती थी तब ललनायें 'त्राहि माम्, त्राहि माम' कहती हुई पास खड़े हुए तरुण पुरुष के वक्षःस्थल का आश्रय लेती थीं और इसलिए इस स्त्रैण स्वभाव को पहचान कर वहुतेरे युवक गण, जब स्त्री रुष्ट होकर वैठ जाती, तब मेघगर्जना होने की प्रार्थना करते थे। आज नौकरशाही भी अशक्त असहयोगियो को वश मे करने के लिए मोपलाओ के उत्पात तक का स्वागत कर रही है और अपनी दी हुई स्त्रैण शिक्षा पर उसे इतना विश्वास है कि, मोपलोवाली दलील मानो रामवाण अस्त्र हो, यह समझ कर उसका उपयोग करती है, और हम मे भी अभी कितने ही ऐसे लोग मौजूद है जो ऐसा स्वराज्य चाहते हैं कि जिसमें परदेशी लोग हमारी रक्षा करे। जिसने स्त्रैण शिक्षा को प्राप्त किया है उसकी स्वराज्य-सम्वन्धी कल्पना भी स्त्रैण ही हो सकती है।

स्त्रैण शिक्षा परिश्रम से डरती है। स्त्रैण शिक्षा किसी समय भी विपत्ति का आह्वान नहीं करती। स्त्रैण शिक्षा विलासप्रिय होती है। स्त्रैण शिक्षा को वह प्रिय होता है जो सरल हो, थोड़ा हो, बिना परिश्रम मिलता हो, जिसके लिए यज्ञ और तपस्या न करनी पड़े। स्त्रैण शिक्षा ऊपर के भभके के भुलावे मे पड़ती है। स्त्रैण शिक्षा थोड़े और क्षणिक स्वार्थ ही को देखती है। स्त्रैण शिक्षा मे पुरुषार्थ कहाँ से हो सकता है? परिश्रम तो स्त्रैण स्वभाव के विरुद्ध है।

स्त्रैण स्वभाव का अर्थ स्त्री-स्वभाव नहीं। स्त्रियाँ तो आज भी हिन्दुस्थान मे भारी से भारी तप और यज्ञ करती है। आज

जो पुरुषों में स्त्रियों के समान संयम होता तो स्वराज्य कभी का मिल गया होता। स्त्री-स्वभाव में तो तेज होता है, परन्तु स्त्रैण स्वभाव में उसका पूर्ण अभाव होता है। स्त्रैण स्वभाव में 'अति दूरं देशीपन', अति-होशियारी और अति सुरक्षितता की ओर दृष्टि, पूरी पूरी होती है।

स्त्रैण शिक्षा का त्याग करना सुगम है, परन्तु स्त्रैण शिक्षा के कारण बने स्त्रैण स्वभाव को छोड़ना सुलभ नहीं। आज दिन हर एक मनुष्य शिक्षा के अन्त में श्रेष्ठ 'केरिअर' प्राप्त होने की इच्छा रखता है। 'केरिअर' का ध्यान रखने में कुछ बुराई नहीं; परन्तु 'केरिअर' दो प्रकार का होता है। 'केरिअर' मर्दाना भी होता है और स्त्रैण भी होता है। जिसमें महत्त्वाकांक्षा होती है, जिसमें कमाने और गुमाने का साहस होता है, जिसमें सङ्कट से जूझने ही में निरतिशय आनन्द पाने की वृत्ति होती है, जिसमें मर कर कीर्ति-रूप में जीने को लालसा होती है, वह 'केरिअर' मर्दाना अथवा पौरुषी है। प्राण जाय पर ईमान न जाय, ग़रीबी भले ही आ जाय पर नाक नीची न हो, परिश्रम भले ही करना पड़े परन्तु अन्याय की रोटी कदापि न खावे,, इस तरह का स्वभाव मरदाना स्वभाव है। आज बहुतेरे विद्यार्थी रुई धुनकने की अपेक्षा टाइप राइटर, सूत कातने की अपेक्षा ताश खेलना, कपड़ा बुनने की अपेक्षा लेक्चरबाजी और कम्पोजीटर बनने की अपेक्षा क्लर्क बन जाना अधिक पसंद करते हैं; यह सब स्त्रैण शिक्षा का ही प्रभाव है।

मरदानी शिक्षा का पहला सिद्धान्त यह होना चाहिए कि जो परिश्रम करने के लिए तैयार न हो, उसको पढ़ने का अधिकार नहीं। कोई भी विद्यार्थी मजूर न रह कर पण्डित न बन पाये।

शिक्षा लेने के लिए मनुष्य धन भले ही न दे सके, पर उसे परिश्रम तो देना ही चाहिए। शिक्षार्थी मनुष्य-समाज से अनाज भले ही ले, पर पकाने का परिश्रम तो उसे स्वयं ही करना चाहिए, अपना भार भी वह समाज पर भले ही रक्खे, किन्तु अपने समान अनेक विद्यार्थियो को पढ़ाने वाले गुरु का भार तो अपने ही ऊपर लेवे। मनुष्य-शिक्षा के परिणाम-स्वरूप अनेक तरह की रुचियाँ भले ही प्राप्त करे, परन्तु निर्विघ्न जीवन जीने की रुचि का विकास कदापि अपने अन्दर न करे, क्योंकि जोखिम—खतरा—ही जीवन का रहस्य है। और विघ्न-बाधाओ के साथ युद्ध करना सच्चा शौर्य है—सच्चा पुरुषार्थ है।

भावी युग की शिक्षा*

माङ्गलिक अवसरो पर प्रवचन करने की प्रथा पुरानी है। प्रवचन मे भूत काल के किसी प्रसङ्ग को लेकर उसका रहस्य बतलाया जाता है। पर मैं तो आज भविष्य काल की ही बात करूँगा, क्योकि आज का खोला गया यह बाल-मन्दिर भविष्य काल की संस्था है।

सर्व-साधारण जन भविष्य काल को अस्पष्ट, दूरवर्ती और परदे के पीछे ढँका हुआ मानते है, पर यह बात सच नही। भविष्य काल भूत काल ही मे छिप कर विचरता है। वर्तमान काल मे रहते हुए भी वह वर्तमान काल के नियमो से बँधा हुआ नहीं रहता। उसके अपने भविष्य के नियम जुदे ही होते है। वह उसी के प्रति वफ़ादार रहता है। आज के लड़के—हमारी गोद मे खेलने वाले बच्चे—भविष्य काल के नागरिक हैं। इन्हे भविष्य काल के अनुकूल शिक्षा देना हमारा काम है।

बहुतेरे मानते है कि शिक्षा का अर्थ है मानव जाति की भूत-काल की कमाई के संग्रह का पाथेय बना कर बच्चो के देने की क्रिया। किन्तु यह भूल है। कई बार भूत काल का सञ्चय

---

* भावनगर दक्षिणामूर्ति विद्याभवन के बाल-मन्दिर के प्रवेश-महोत्सव के अवसर पर किया हुआ प्रवचन।

बोझ रूप हो जाता है। भूत काल का भार उठा कर जीवन-यात्रा मे प्रयाण करना चाहिये, यह बच्चो को कहना महज क्रूरता है। मै नही कहता कि भूत काल के अनुभवो को फेक दें। वर्तमान काल भूत काल ही से बनता है, उसी से भविष्य काल को देखने की दृष्टि मिलती है। यह सच है, परन्तु केवल इसीलिये भूत काल को भूत की तरह भविष्य के कधे पर न चढ़ बैठना चाहिये। भूत काल कितना ही चतुर और बूढ़ा हो तो भी उसमे बुढ़ापे का अन्धत्व तो आही जाया करता है। छोटे बच्चे का हाथ पकड़ कर जिस तरह बूढ़े चलते हैं, उसी प्रकार इस प्राकृतिक नियमानुसार जीवन-यात्रा का अगुआपन, बालक भविष्य काल के ही हाथ मे होना चाहिये।

प्राचीन काल के मनुष्यो ने भविष्य काल के प्रति इतनी श्रद्धा सर्वदा नही बतलाई, इसीसे कई बार मुझे यह ख़याल हुआ कि ठीक हुआ जो आज तक लोगो को न सूझा कि तीन से छः वर्ष तक के कोमल बच्चो को पक्की शिक्षा दे; नही तो बेत, डण्डे और क़वायद की पुरानी पद्धति मे हमारी यह पेढी कभी की कुचल गई होती।

भविष्य की शिक्षा भूत काल की शिक्षा से बिलकुल ही भिन्न होती है। शिक्षा की पद्धति के विकास का जॉच करने से उसमे हमे एक स्वाभाविक विकास दीख पड़ता है। मनुष्य सबसे पहले शरीर ही को पहचनता है और शरीर के द्वारा ही सब काम लेना चाहता है। बालको की स्मरण-शक्ति का विकास नही हुआ, बस, करो शरीर-दण्ड का प्रयोग; बच्चा व्याकरण के नियमो को नही समझ सकता, कहो, इसे रट कर मुखाग्र करे। बच्चे की अधिक कार्य करने की वृत्ति और चैतन्य बदमाशी मे परिणत हो

जाता है; दो, इसे भूखो मरने की सजा, एक समय यही दस्तूर था। शरीर के द्वारा मन को तैयार करने के प्रयास ही के फल-स्वरूप आध्यात्मिक संसार मे प्राणायाम की प्रथा का आविष्कार हुआ है। वह श्वास को रोककर मन को रोकने की यह एक युक्ति है। देह-दण्डन अर्थात् देह को दण्ड देना इसी युग की एक दवा है। हम इस पद्धति को 'शारीरिक युग' कह सकते है।

फिर 'बुद्धियुग' का अवतार हुआ। 'बुद्धियुग' मे तर्क पर असीम विश्वास था। गुरु और शिष्य के बीच मे हुए प्रसिद्ध सवाद अभी तक लिखे हुए मिलते है। बुद्धि को पराजित कर देने से सर्वस्व प्राप्त होता है। यही उस समय माना जाता था। इसी कारण शिक्षा का अन्तिम आदर्श रहता था सभा जीत लेना। इन्ही दिनो दिन-दहाड़े मशाले जलवाकर मल्लो की तरह विजयाभिलाषी विद्वान् घूमते होगे।

परन्तु अन्त मे मनुष्य ने देखा कि तर्क अप्रतिष्ठित है। मनुष्य का रहस्य मस्तिष्क मे नही, हृदय मे है, राजधानी कलकत्ते मे नही, पर दिल्ली मे है। जब लोगो ने यह देखा, तब हृदय का युग प्रारम्भ हुआ। इस युग मे सङ्गीत और कला, शिक्षा मे सम्मिलित हुई। संस्कारो और विधियों को महत्त्व प्राप्त हुआ; हृदय के द्वारा ही शिक्षा दी जाय, इस तत्त्व के साथ गुरु-भक्ति और गुरूपासना आरंभ हुई।

इसके बाद का युग है आत्मयुग। मानव-जाति इस आत्मयुग मे प्रवेश करने की तैयारी कर रही है। आत्मा का स्वभाव है—स्वतन्त्रता, निर्भयता, तेजस्विता और स्वयं-स्फूर्ति। आत्मा का स्वभाव है, निर्वैरता और प्रसन्नता, जो शिक्षा इन वृत्तियो के द्वारा दी जाती

है, वह आध्यात्मिक शिक्षा कही जाती है। यदि बचपन ही से ऐसी शिक्षा दी जाय तो वह बच्चो के लिए बलप्रद हुए बिना नही रह सकती।

आध्यात्मिक शिक्षा मे प्रतिस्पर्द्धा को स्थान नही मिल सकता, वहॉ तो सात्विक सहयोग ही हो सकता है। आत्मिक शिक्षा मे डर और लोभ को जागृत करके काम नही लेना होता; बल्कि चैतन्य मे जो स्वाभाविक उत्साह होता है, उसी के द्वारा काम लिया जाता है। आत्मिक शिक्षा मे कर्मयोग प्रधान रहेगा, फिर भी उसके साथ ध्यानयोग और भक्तियोग पूर्णतया मिले हुए होगे। इसीको थाड़े मे कहना चाहे तो आत्मिक शिक्षा का अर्थ—कर्म, भक्ति, ध्यान और ज्ञान का अपूर्व रसायन है।

वीरयुग मे कलहवृत्ति का विकास भी शिक्षा का आदर्श रहता था। आत्मिक शिक्षा मे आत्मा की स्वाभाविक निर्भयता और तेजस्विता को ही विशेष महत्व दिया जाता है। ऐसी शिक्षा के द्वारा ही आत्मिक युग का, अहिसात्मक स्वराज्य का, आवाहन हो सकता है। जिन बालको को आत्मिक शिक्षा मिली है, वही अहिंसात्मक स्वराज्य के प्रति सम्पूर्ण श्रद्धा प्रदर्शित कर सकते है।

प्रेम, पवित्रता और धैर्य—ये आत्मिक शिक्षा के आधार-स्वरूप हैं। शारीरिक दण्ड द्वारा ऐसी शिक्षा नही दी जा सकती, न विद्यार्थी को तर्क-वितर्क के जाल में पारङ्गत करके ही वह दी जा सकती है। तरह तरह के विधि-विधानो से भी वह विकासित नही की जा सकती। गुरु केवल अनुकूल वातावरण खड़ा करे, उसमे अपनी शुद्ध वृत्ति से शुभ संस्कार और शिव संकल्प उड़ेलता रहे और बच्चो को स्वयं स्फूर्ति से स्वेच्छा से, उन्हे ग्रहण करने दे।

'गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं, शिष्याः संछिन्नसंशयाः' इस बीज मंत्र का अर्थ अब हम बराबर समझते है।

इसका यह अर्थ नही कि बिना गुरु के शिक्षा दी जा सकती है। आज देश मे हजारो ग़रीब बच्चे—लगभग सारा देश—शिक्षा से वंचित है। इस स्थिति को कोई प्राकृतिक शिक्षा नही कह सकता। क्रूर प्रकृति मे आत्म-विकास की व्यवस्था नही है। गुरु अपनी उपस्थिति से साक्षी रह कर ही आत्मा को स्वाभाविक वातावरण प्राप्त करा देता है, और आत्मा के जागृत होते हो स्वयं विकास का आरम्भ होता है।

राजनीति की तरह शिक्षा में भी आत्म-निर्णय अथवा स्वय विकास का आदर्श सम्मिलित होना चाहिये। आज ससार मे दो आदर्शों के बीच झगड़ा चल रहा है, एक तो साम्राज्य का आदर्श और दूसरा स्वराज्य का। साम्राज्य का आदर्श चाहता है कि शासन के समस्त सूत्र एक के ही हाथ मे आ जावें। एक हुक्म करे और अन्य सब माने, जहाँ तहाँ एक की ही सत्ता का दौर दौरा हो, यही साम्राज्य का आदर्श है। रावण ने इसो आदर्श का प्रयोग करके देखा था। शिक्षा मे भी साम्राज्यवाद आ घुसा है। विश्वव्यापी शिक्षा का एक विभाग खोल कर, सर्वत्र ऐकही साँचे के शिक्षित लोग उत्पन्न करना भी साम्राज्य का आदर्श ही हुआ। स्वराज्य का आदर्श इससे विभिन्न है। आत्मा एक ही है और वह परमात्मा का अंश है। इसलिए शिक्षा का उद्देश्य सभी जगह एक सा हो, पर आत्मा प्रत्येक मनुष्य में पृथक पृथक रूप से प्रस्फुरित होता है, अतएव प्रत्येक को स्वतंत्र रीति से अपना विकास करने देना ही स्वराज्य का आदर्श है।

सच बात तो यह है कि हम भविष्य के शिक्षकों को अब भी ठीक तरह से नहीं समझ पाये। भविष्य का शिक्षक पुराने पंडित जी नहीं। वह तो प्रजा का गुरु है। आज की राजनीति और समाज का नेतृत्व चाहे जिस किसी के हाथ में हो, पर भविष्य में बच्चों की मनोरचना को बनाने वाले अध्यापक ही समाज के नेता और राजनैतिक अगुआ होंगे। क्योंकि भविष्य का अध्यापक जितना मानसशास्त्री होगा उतना ही समाजशास्त्री भी होगा। समाज के हर एक अंग और प्रत्यङ्ग के प्रति उसकी ज्ञानपूर्ण सहानुभूति होगी और प्राचीन काल के दीर्घदृष्टा ब्राह्मणों ने समाज में जिस स्थान को प्राप्त किया था, उसी को भविष्य के अध्यापक और उन की शिक्षण संस्थायें प्राप्त करेंगी। सच्चा ब्राह्मण राजा के शासन से भी परे रहता है। उसी तरह शिक्षण संस्थायें भी स्वतंत्र रहनी चाहिएँ। ब्राह्मण को दान देकर जैसे नमस्कार करने की प्रथा है, उसी तरह आज भी धनी लोगों को श्रद्धा-भक्ति पूर्वक शिक्षण संस्थाओं की सहायता करनी चाहिए और अपने को धन का सद्व्यय करने का अवसर देने के लिए सर्वदा अध्यापक गण का ऋणी रहना चाहिए। अध्यापक गण जितना ही समाज का विश्वास संपादन करेंगे और समाज उन्हें जितनी ही स्वतंत्रता देगा, उनकी शिक्षा उतनी ही सजीव—प्राणवान—होगी। अश्रद्धा-शील बनकर यदि समाज अध्यापकों पर आतंक जमाना चाहेगा तो निस्सन्देह उनकी शिक्षा भी निष्प्राण होगी।

वसंत पंचमी

वसन्त पंचमी क्या है ? ऋतुराज का स्वागत ।

माघ शुक्ल पंचमी को हम वसन्त पंचमी कहते हैं । परन्तु वसन्त पंचमी हर शख्स के लिए उसी दिन नहीं होती । ठण्ढे खून वाले आदमी के लिये वसन्त पंचमी इतनी जल्दी नहीं आती ।

वसन्त पंचमी प्रकृति का यौवन है। वह मनुष्य, वसन्त पंचमी के आगमन का अनुभव बिना ही कहे करता है जिसका रहन-सहन प्रकृति के प्रतिकूल न हो, जो कुदरत के रंग मे रँग गया हो। नदी के क्षीण प्रवाह मे एकाएक आई हुई बाढ को हम जिस प्रकार अपनी आँखो से देखते है, उसी प्रकार हम वसन्त को भी आता हुआ देख सकते हैं । हाँ, वह एक ही समय अलबत्ते सब के हृदय मे प्रवेश नहीं करता ।

वसन्त जब आता है, तब यौवन के उन्माद के साथ आता है । यौवन मे सुन्दरता होती है; पर यह नहीं कह सकते कि उसमे क्षेम भी हमेशा होता है । यौवन की तरह वसन्त में भी शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य की रक्षा करना कठिन हो जाता है । तारुण्य की तरह वसन्त भी लहरी और चचल होता है । कभी जाडा मालूम होता है, कभी गरमी, कभी जी ऊबने लगता है, कभी उल्लास मालूम होने लगता है । जाड़े मे खोई हुई शक्ति

फिर प्राप्त की जाती है; परन्तु जाड़े मे प्राप्त की हुई शक्ति को वसन्त मे संचित कर रखना आसान नही है। वसन्त मे यदि सयम के साथ रहा जा सके तो सारे वर्ष भर के लिये आरोग्य की रक्षा हो जाती है। वसन्त मे प्राणिमात्र पर एक चित्ताकर्षक कान्ति छा जाती है, पर वह वैसी ही ख़तरनाक भी होती है।

वसन्त के उल्लास मे संयम की बात, संयम की भाषा, शोभा नही देती, सहन नही होती, परन्तु उसी समय उसकी अत्यन्त आवश्यकता होती है। क्षीण मनुष्य यदि पथ्य के साथ रहे तो इसमे कौन आश्चर्य की बात है? इससे क्या लाभ है? नाममात्र के जीवन मे क्या स्वारस्य है? जीवन का आनन्द तो है सुरक्षित वसन्त।

वसन्त उड़ाऊ होता है। इस बात, मे भी प्रकृति का तारुण्य ही प्रकट होता है। फूल और फल कितने ही लगते हैं और कितने ही मुरझा जाते हैं। मानो प्रकृति जाड़े की कंजूसी का बदला देती है। वसन्त की समृद्धि चिरस्थायी समृद्धि नही। जो कुछ दिखाई पड़ता है वह स्थिर नही रहता।

राष्ट्र का वसन्त भी बहुत बार उड़ाऊ होता है। कितने ही फूल और फल बडी बड़ी आशाये दिखाते है; परन्तु परिपक्व होने के पहले ही मुरझाकर गिर पड़ते है। सच्चे वही है जो शरद ऋतु तक कायम रहते है। राष्ट्र के वसन्त मे सयम की वाणी अप्रिय मालूम होती है, परन्तु वही पथ्यकर है।

उत्सव मे विनय, समृद्धि मे स्थिरता, यौवन मे संयम—यही सफल जीवन का रहस्य है। फूलो की सार्थकता इसी बात मे है कि उनका दर्प फल के रस के रूप मे परिणत हो।

वसन्त पंचमी के उत्सव की सृष्टि शास्त्रकारो के द्वारा नहीं हुई और न धर्माचार्यों ने उसे मान्य ही किया है। उसे तो कवियों और गायको ने, तरुणो और रसिको ने जन्म दिया है। कोयल ने उसे निमंत्रण दिया है और फूलो ने उसका स्वागत किया है। वसन्त क्या है—पत्तियो का गान, आम्र-मंजरियो की सुगन्ध, शुभ्र अभ्रो की विविधता और पवन की चंचलता। पवन तो हमेशा ही चचल होता है; परन्तु वसन्त मे वह विशेष भाव से क्रीड़ा करता है। जहाँ जाता है वहाँ पूरे जोश-खरोश के साथ जाता है; जहाँ बहता है वहाँ पूरे वेग से बहता है; जब गाता है तब पूरी शक्ति के साथ गाता है और थोड़ी ही देर मे घूम भी जाता है।

वसन्त से संगीत का नवीन सूत्र शुरू होता है। गायक आठो पहर वसन्त के आलाप ले सकते है। न तो देखते है पूर्वरात्र और न देखते हैं उत्तररात्र।

संगीत का प्रवाह तभी चलता है जब संयम, औचित्य और रस तीनो का संयोग होता है। जीवन मे भी अकेला संयम स्मशानवत् हो जाता है, अकेला औचित्य दम्भ-रूप हो जाता है, अकेला रस क्षणजीवी विलासिता में लीन हो जाता है। इन तीनो का संयोग ही जीवन है। वसन्त मे प्रकृति हमे रस की धारा प्रदान करती है। संयम और औचित्य-रूपी हमारी अपनी सम्मति हमे उसमे जोड़नी चाहिए।

गुलामों का त्योहार ?

हरएक त्योहार से कुछ न कुछ शिक्षा अवश्य ही मिलती है। पर इस वर्तमान होली से भी कुछ शिक्षा मिल सकती है ? पिछले २०—२५ वर्षों में जिस ढंग से यह त्योहार मनाया गया है, उसे देखते हुए तो इसके विषय मे किसी प्रकार का उत्साह नही हो सकता। प्राचीन इतिहास अथवा पौराणिक कथाये भी इस त्योहार पर अच्छा प्रकाश नही डालती। फिर भी इतना तो स्वीकार ही करना चाहिए कि होली एक प्राचीनतम त्योहार है। जाड़े के समाप्त होने पर एक भारी होली जलाकर आनन्दोत्सव मनाने का रिवाज प्रत्येक देश मे और प्रत्येक युग मे जारी रहता है। इस उत्सव मे संयम की लगाम ढीली रखकर लोग स्वच्छन्दता का कुछ आस्वादन लेना चाहते है।

हिन्दू मे, अकेले मनुष्यो के ही जाति नही होती। बल्कि देवताओ, पशु-पक्षियो और त्योहारों तक के जाति होती है। अष्टावशु की जाति वैश्य है, नाग और कबूतर ब्राह्मण होते है और तोता बनिया होता है। इसी प्रकार होली का त्योहार शूद्र-जाति का है। क्या इसीलिए होली का कार्यक्रम किसी ज़माने के बिगड़े हुए शूद्रो के द्वारा रचा गया होगा और उनके हको को क़ायम रखने के लिए दूसरे वर्णों ने उसे स्वीकार किया होगा ? पुराणो मे एक नियम है कि होली के दिन अछूतों को छूना चाहिए,

इसका क्या उद्देश होना चाहिए ? द्विज लोग संस्कार-युक्त अर्थात् सयमी, और शूद्र स्वच्छन्दी हैं, यह मानकर क्या होली मे इतनी स्वच्छन्दता रक्खी गई है ? होली के दिन राजा-प्रजा एक होकर दूसरे पर रंग उड़ाते है—क्या इसलिए तो नहीं कि कम से कम साल मे चार-पाँच दिन तो समानता के सिद्धान्त का अनुभव हो ?

होली क्या है—काम-दहन, वैराग्य की साधना। विषय को काव्य का मोहक स्वरूप देने से वह बढ़ता है। उसीको बीभत्स स्वरूप दे कर, उसे नंगा कर, उसका असली स्वरूप समाज के सामने खड़ा करके विषय-भोग के प्रति घृणा उत्पन्न करने का हेतु तो इसमे न हो ? जाड़े भर के जिसके मोह-पाश मे फँसे रहे, उसकी दुर्गत करके, उसे जला कर पश्चात्ताप की विभूति शरीर पर लपेट वैराग्य धारण करने का उद्देश तो इसमे न रहा हो ?

प्राचीन-काल की लिग-पूजा की विडम्बना तो इसके द्वारा न की जाती हो ? परन्तु होलिका को वसन्तोत्सव भी कहते हैं। जाडा गया, वसन्त का नूतन जीवन वनस्पतियो मे भी आगया। इसलिए जाड़े मे तमाम लकड़ियो को एकत्र कर आखिरी वार आग जलाकर ठंढ को विदा देने का तो यह उत्सव न हो ? और ढुढा राक्षसी कौन है ? कहते है कि वह नन्हे बच्चो को सताती है। होली के दिन जगह-जगह आग सुलगा कर, शोरगुल मचा कर वह भगाई जाती है। इसमे क्या कवि-कल्पना या रहस्य होगा ?

लोगो के अन्दर अश्लीलता तो हुई है। वह मिटाये नहीं मिट सकती। "तुष्यतु दुर्जनः" इस न्याय के अनुसार साल मे एक दिन देने से, कितने ही लोग मानते हैं कि वह हीन वृत्ति सारे

वर्ष भर काबू मे रहती है। यदि यह बात सच हो तो यह भारी भूल है। आग मे घी डालने से आग काबू मे नहीं रहती। पाप और अग्नि के साथ स्नेह कैसा ? वसन्त का उत्सव ईश्वर-स्मरण-पूर्वक सौम्य रीति से मनाना चाहिए। दिवाली मे का उत्सव का आनन्द कम होता है ? लकड़ियाँ जलाकर होली करने से ही सच्चा वसन्तोत्सव होता है। यदि यह माना जाय कि होलिका एक राक्षसी थी और उसे जलाने का यह त्योहार है तो हम उसे चुराकर लाई लकड़ियो से नही जला सकते। होलिका राक्षसी, प्रह्लाद की निर्वैर पवित्रता से ही जल सकती है।

हमे यह विचार करना चाहिए कि हमारे त्योहार, हमारे राष्ट्रीय जीवन और हमारी संस्कृति के प्रतिम्बिव-रूप हैं या नही ? मनुष्य मात्र उत्सव-प्रिय हैं। परन्तु स्वतंत्र मनुष्यो का उत्सव जुदा होता है, गुलामो का जुदा होता है। जो स्वतन्त्र होता है, जिसके सिर जवावदेही होती है, जो अधिकार का उपयोग करता है, उसकी अभिरुचि सादी और प्रतिष्ठित होती है। जो परतन्त्र है, जिसे अपनी जिम्मेदारी का ज्ञान नहीं, जिसके जीवन मे महत्वा-कांक्षा नही रह गई, उसकी अभिरुचि वेढंगी और सीमा-रहित होती है। एक ग्रन्थकर्त्ता ने लिखा है कि स्त्रियो को जो तरह तरह के रंग पसन्द होते है और रंग-बिरंगे विचित्र लिवास की ओर उनका मन दौड़ा करता है, उसका कारण है उनकी परवशता। स्त्री यदि स्वाधीन हो जाय तो उसका पहनावा भी सादा और सफेद हो जाय। स्त्रियो के संबंध मे यह बात ठीक हो या न हो, परन्तु राष्ट्र पर तो यह ठीक ठीक चरितार्थ होती है। जिस जमाने मे राष्ट्र अधिकार-हीन, परतंत्र, वाल-वृत्ति और गैर-जिम्मेदार होगा,

उसी जमाने मे मूर्खता-पूर्ण कामों के द्वारा इस त्योहार को मनाने की प्रथा प्रचलित हुई होगी।

रोमन लोगो में सैटर्नेलिया नामका एक गुलामो का त्योहार था। उस दिन गुलाम अपने मालिक के साथ खाना खाते, आजादी से वोलते-चालते और आनन्द मनाते। इतने आनन्द के वाद फिर एक साल तक गुलामी मे रहने की हिम्मत उनमे आ जाती।

स्वराज्य-वादी लोगो को उचित है कि वे अधिक गंभीर हों। हमारी योग्यता क्या है, हमारी स्थिति कैसी है, इसका विचार करके उन्हें ऐसा ही जीवन व्यतीत करना चाहिए, जो उन्हे शोभा दे सकता हो। यदि वसन्तोत्सव करना हो तो समाज मे नवीन जीवन पैदा करके इस त्योहार को मनाना चाहिए। यदि काम-दहन करना हो तो ब्रह्मचर्य व्रत धारण करके पवित्र होना चाहिए। यदि होलिकोत्सव गुलामो का एक-मात्र सान्त्वना-साधन हो तो उसे स्वराज्य के खातिर एकवारगी मिटा देना चाहिए। भाषा में से यदि गालियो की पूँजी कम हो जाय तो शोक करने का प्रयो-जन नहीं। होली के दिनो को हम शहरो और गाँवो की सफाई करने मे लगा सकते हैं। लड़के मर्दानी कसरत करने और खेल खेलने मे तथा शराव के दुर्व्यसन मे फँसे लोगों के मुहल्लों मे जाकर शरावखोरी मिटाने का उपदेश देने मे लगा सकते हैं और स्त्रियाँ स्वदेशी के गीत गाते-गाते खादी का प्रचार कर सकती हैं।

प्रत्येक त्योहार का स्वराज्य-संस्करण अवश्य होना चाहिए। क्योंकि स्वराज्य का अर्थ है—आत्म-शुद्धि और नव-जीवन।

हरिणों का स्मरण

एक विशाल बन था। बीस-बीस तीस-तीस कोस तक मनुष्य की झोपड़ी या मुसाफिरो के काम चलाऊ चूल्हो तक का पता न था। उसमे एक रमणीय तालाब के पास कितने ही हरिण रहते थे। तालाब के किनारे बेल का एक पेड़ था। इस पेड़ के नीचे पाषाण-रूप मे महादेव विराजमान थे। हरिण रोज तालाब मे नहाते, महादेव के दर्शन करते और चरने जाते। दोपहर को आकर बेल के पेड़ के नीचे विश्राम करते। शाम को तालाब का पानी पीते, महादेव के दर्शन करते और सो जाते। बिना किसी शास्त्र के पढ़े ही हरिणो को धर्म का ज्ञान हुआ था। इससे वे बड़े ही सन्तोषपूर्वक अपना निर्दोष जीवन व्यतीत करते थे।

फाल्गुन मास था। कृष्णपक्ष की चतुर्दशी के दिन की बात है। एक विकराल व्याधा उस बन में घुसा। शाम हुआ ही चाहती थी। व्याधा बहुत ही भूखा था। व्याधो की भूख ऐसी वैसी नही होती। यदि और कुछ न मिले तो वे कच्चा मांस ही खाने बैठ जाते है। परन्तु हमारे इस व्याधा को अपनी भूख का दुःख न था। घर मे बाल-बच्चे भूखे है, उन्हे क्या खिलाऊँगा? कौन सा मुँह लेकर घर जाऊँ? यदि शिकार न मिले तो खाली

हाथ लेकर घर जाने की अपेक्षा वन मे ही रात भर पड़ा रहूँ—शायद कुछ हाथ लग जाय। यह विचार करके वह तालाव के किनारे उस विल्वपत्र के पेड़ पर चढ़ कर वैठ गया।

'अपने बाल-बच्चो के भरण-पोषण के लिए स्वयं बहुत कष्ट उठाना और खतरे मे पड़ जाना'—इतना ही वह अपना धर्म समझता था। इससे अधिक व्यापक धर्म का ज्ञान उसे न था।

रात हुई। कृष्णपक्ष की घोर अँधेरी काली रात! कुछ दिखाई नहीं पड़ता था। व्याध ने तालाव की ओर देखने मे रुकावट डालने वाले विल्वपत्रो को तोड़ कर नीचे गिरा दिया। इतने ही मे दो चार हरिण वहाँ पानी पीने आये। पेड़ पर चढ़े व्याधा को देखकर चौंके और निराशा के स्वर मे बोले—"भो भो व्याध, अपने धनुष्य पर वाण न चढ़ा। हम मरने को तो तैयार हैं, पर हमें इतना अवसर दे कि हम घर जा कर अपने बाल-बच्चो और सगे-सबधियो से मिल आवें। सूर्योदय के पहले ही हम तेरे पास हाज़िर हो जायँगे।"

बहेलिया खिलखिला कर हँसा—"क्या तुम मुझे बुद्धू समझते हो? इस हाथ आये शिकार को मैं छोड़ दूँ? मेरे बाल-बच्चे जो भूखे तड़प रहे है?"

"हम भी तेरी तरह बाल-बच्चो का ही खयाल करके इतनी छुट्टी चाह रहे हैं। तू आजमा तो, कि हम अपने वचन का पालन करते हैं या नहीं?"

व्याध के मन मे श्रद्धा और कौतुक जाग उठा। ठीक सूर्योदय के पहले आ जाने की ताक़ीद करके उसने हरिणो को घर जाने

दिया और खुद बिल्व के पत्तो को तोड़ता हुआ रात भर पेड़ पर जगता रहा।

ठीक सूरज उगने के समय पुनः लौट आने की प्रतिज्ञा उन्होने की थी। अतः वे हरिण अपने घर गये, बाल-बच्चों से मिले, अपने सीगो से एक दूसरे को खुजाया, नन्हे बच्चो को प्रेम से चाटा, व्याध की कथा उन्हे कह सुनाई और बिदा माँगी "शठं प्रति शाठ्यं कुर्यात्।" अरे! दुष्ट बहेलिया को दिये वचन का क्यों पालन करना चाहिए? अपने शरीर का तमाम बल लगा कर यहाँ से चुपचाप भाग चले—" ऐसी सलाह देने वाला उनमे कोई न निकला।

सगे-संबंधियो ने कहा—" चलिए, हम भी साथ चलते हैं। स्वेच्छा से मृत्यु स्वीकार करने पर मोक्ष मिलता है। आपके अपूर्व आत्म-त्याग को देख कर हम पुनीत होंगे।"

बाल-बच्चे साथ हो लिये, मानो व्याध की हिंस्रता की परीक्षा करने के लिये निकले हो!

सूर्योदय के पहले झुण्ड आ पहुँचा। रात वाले हरिण आगे बढ़े और बोले—"लो भाई, हम वध होने के लिए तैयार हैं।" दूसरे हरिणो ने भी कहा—"हमारा भी शिकार कर ले। अच्छी बात है, अगर इससे तेरे बाल-बच्चो की भूख शान्त होती हो।"

व्याधे की हिंसा-वृत्ति रात्रि की तरह लुप्त हो गई। सारे दिन का उपवास और सारी रात के जागरण से उसकी चित्त-वृत्ति अन्तर्मुख हो ही गई थी। तिस पर इन प्रतिज्ञा-पालक हरिणो का धर्माचरण देख कर तो वह दंग ही रह गया! उसके हृदय मे नवीन प्रकाश हुआ। प्रेम-शौर्य की दीक्षा उसे मिली!

वह पेड़ से उतरा और हरिणो की शरण गया । दो पैर वाले मनुष्य ने चार पैर वाले पशुओ को साष्टांग प्रणाम किया। आकाश से श्वेत पुष्पो की वृष्टि हुई। कैलास से एक वड़ा विमान उतरा। व्याध और हरिण उसमे' वैठे और कल्याणकारिणी शिव-रात्र का माहात्म्य गाते हुए शिवलोक को सिधारे। आज भी वे आकाश मे दिव्य-रूप मे चमकते हैं।

महाशिवरात्रि का दिन मानो इन धर्मनिष्ठ सत्यव्रत हरिणो के स्मरण का दिन है।

विजया-दशमी

दशहरे का त्योहार भिन्न भिन्न कालीन भिन्न भिन्न पुटो से बना है। दशहरे के त्योहार मे असंख्य युगो के असंख्य प्रकार के आर्य-पुरुषार्थ की विजय समाविष्ट है।

मनुष्यो का पारस्परिक युद्ध जितना महत्वपूर्ण है, उतना ही अथवा उससे भी अधिक महत्वपूर्ण युद्ध, मनुष्य और प्रकृति का है। मनुष्य की प्रकृति पर सब से बड़ी विजय खेती है। जिस दिन मनुष्य ज़मीन जोत कर, उसमे नव-धान्य बो कर कृत्रिम जल का सिंचन करके, उससे अपनी आजीविका और भविष्य के संग्रह के लिए आवश्यक अनाज प्राप्त कर सका, वही उसकी बड़ी से बड़ी विजय का दिन था। उस दिन की स्मृति को हमेशा ताज़ा रखना कृषि-प्रधान आर्य लोगों का प्रथम कर्तव्य था।

बीसवी सदी भौतिक और यान्त्रिक अन्वेषण की सदी मानी जाती है, और वह ठीक भी है। मनुष्य-प्राणी की हस्ती और संस्कृति मे जो महान् अन्वेषण कारणीभूत हुए है, वे सब आदि-युग मे ही आविष्कृत हुए है। ज़मीन जोतने की कला, सूत कातने की कला, आग सुलगाने की कला और मट्टी से पक्का घड़ा बनाने की कला—ये चार कलाये मानवी संस्कृति का आधारस्तम्भ हैं।

इन चारो कलाओ का उपयोग करके विजया-दशमी के दिन हमने कृषि-महोत्सव की रचना की है।

विजया-दशमी के त्योहार मे चातुर्वर्ण्य एकत्र दिखाई देता है। ब्राह्मणो का सरस्वती-पूजन और विद्यारंभ, क्षत्रियो का शस्त्र-पूजन, अश्वपूजन और सीमोल्लंघन और वैश्यो की खेती—ये तीनो बातें इस त्योहार मे एकत्र होती है। और जहाँ इतना बड़ा काम हो, वहाँ शूद्रो की परिचर्या तो समाविष्ट हुई है। देहात के लोग नवरात्र के अनाज के सोने जैसे जवारे तोड़ कर पगड़ी मे खोस लेते है और बढ़िया पोशाक पहन कर बाजे-गाजे के साथ सीमोल्लंघन करने जाते है। उस समय ऐसा दृश्य दिखाई देता है मानो वे सारे देश का पौरुष व पराक्रम दिखाने के लिए बाहर निकल रहे हो।

दशहरे का उत्सव जिस प्रकार कृषि-प्रधान है, उसी प्रकार क्षात्र महोत्सव भी है। जब किराये के सैनिको को मुरगो की तरह लड़ाने का रिवाज न था, तब क्षात्र-तेज और राज-तेज किसानो मे ही परिवर्द्धित होता था। किसान का अर्थ है क्षेत्रपति—क्षत्रिय। जो साल भर तक धरती-माता की सेवा करता है वही प्रसंग पड़ने पर उसकी रक्षा भी करता है। नदी, नाले, पहाड, पहाडी के साथ जिनका रात-दिन संबंध रहता है, घोड़े, बैल जैसे पशुओ को तालीम दे सकता है, अनेक मजदूरो को जो आजीविका दे सकता है और सारे समाज की जो उदर-पूर्ति करता है, उसके अन्दर यदि राजत्व के समस्त गुण वृद्धि पावे तो आश्चर्य की क्या बात है? जो राजा है वही किसान है और जो किसान है, वही राजा है।

इस अवस्था मे कृषि-त्योहार के क्षात्र-त्योहार हो जाने मे सोलहो आना ऐतिहासिक औचित्य है। क्षत्रियो का मुख्य कर्त्तव्य है—स्वदेश-रक्षा। पर कितनी ही बार, इसके पहले कि शत्रु स्वदेश मे घुस कर देश की खराबी करे, उसके दुष्ट हेतु का पता पा कर खुद ही सीमोल्लंघन करके—अर्थात् अपनी हद को लाँघ कर शत्रु के ही देश मे लड़ाई ले जाना ठीक और वीरोचित होता है।

थोड़ा ही विचार करने से ज्ञात हो जायगा कि इसी सीमोल्लंघन के मूल मे आगे साम्राज्य-भाव विद्यमान है। अपनी हद से बढ़ कर दूसरे के देश पर कब्जा करना, वहाँ से धन-धान्य लूट कर लाना, इसमे धम-भाव की अपेक्षा महत्वाकांक्षा का अंश अधिक है। इस प्रकार लूट कर लाये सोने को यदि पराक्रमी पुरुष अपने ही पास रक्खे तो वर्तमान युग के क्षात्र-प्रकोप (Militarism) के साथ वैश्य-प्रकोप (Industrialism) के सम्मेलन की भयकर स्थिति उत्पन्न हो जाय। प्रभुत्व और धनित्व जहाँ एकत्र हैं, वहाँ शैतान को अलहदा निमंत्रण देने की जरूरत नही रहती। इसीलिए दशहरे के दिन लूट कर लाया सोना तमाम स्वजनो मे बाँट देना, उस दिन की एक महत्वपूर्ण धार्मिक विधि निश्चित की गई है।

सुवर्ण बाँट देने के इस रिवाज का संबंध रघुवंश के राजा रघु के साथ भी जुड़ा हुआ है

रघु राजा ने विश्वजित् यज्ञ किया। समुद्र वलयांकित पृथ्वी को जीतने के बाद सर्वस्व दान कर देना, 'इसका नाम विश्वजित् यज्ञ है। ऐसा विश्वजित् यज्ञ पूरा कर चुकने के बाद रघु राजा के पास वरतन्तु ऋषि का शिष्य विद्वान् और तेजस्वी कौत्स आया

कौत्स ने अपने गुरु से चौदह विद्यायें ग्रहण की थीं और उसकी दक्षिणा के लिए चौदह कोटि सुवर्ण-मुद्रा गुरु को देने का संकल्प उसने किया था, परन्तु सर्वस्व दान कर चुकने के बाद मिट्टी के बरतनो के द्वारा रघु को आदरातिथ्य करता देखकर कौत्स ने उससे कुछ भी याचना करने का विचार छोड़ दिया। राजा को आशीर्वाद करके वह जाने लगा। रघु ने आग्रह-पूर्वक उसे रोक रक्खा और दूसरे दिन स्वर्ग पर चढ़ाई करके इन्द्र और कुबेर से धन लाने की तजवीज की। रघु राजा चक्रवर्ती राजा था, इससे इन्द्र और कुबेर भी उसके मांडलिक थे। ब्राह्मण को दान करने के लिए उनसे कर वसूल करने मे संकोच किस बात का? रघु-राजा की चढ़ाई की बात सुन कर देवता डर गये—उन्होने एक शमी के पेड़ पर सुवर्ण-मुद्रा की वृष्टि की। रघुराजा ने सुबह उठ कर देखा तो जितना चाहिए उतना सुवर्ण मौजूद है। उसने वह ढेर कौत्स को दे दिया। कौत्स चौदह करोड़ से अधिक लेता नही था और राजा दान मे दिया धन वापस नही चाहता था। अन्त को उसने वह धन नगरवासियो को लुटा दिया। वह दिन था—आश्विन सुदी १०। इससे आज भी लोग दशहरे के दिन शमी का पूजन करके उसके पत्तो को सोना समझ कर लूटते हैं और एक दूसरे को देते हैं। कितने ही लोग शमी के नीचे की मिट्टी को भी सुवर्ण मान कर ले जाते हैं।

शमी का पूजन बहुत प्राचीन है। ऐसा माना जाता है कि शमी के पेड़ मे ऋषियो का तपस्तेज है। प्राचीन समय मे शमी की लकड़ी एक दूसरी पर घिस कर आग सुलगाते थे। शमी की समिधा आहुति के काम आती है। पाण्डव जब अज्ञातवास

करने गये थे, तब उन्होंने अपने हथियार एक शमी के पेड़ पर छिपा रक्खे थे और इसलिए कि कोई वहाँ जा न पावे, एक नर-कंकाल उस पेड़ मे बॉध रक्खा था।

राम ने रावण पर जो चढ़ाई की सो भी विजयादशमी मुहूर्त पर। आर्य लोगों ने—हिन्दू लोगों ने—अनेक बार विजया-दशमी के मुहूर्त पर चढाई करके विजय प्राप्त की है। इससे विजयादशमी राष्ट्रीय विजय का मुहूर्त अथवा त्योहार हो गया है। मराठे और राजपूत इसी मुहूर्त पर स्वराज्य की सीमा बढ़ाने के लिए शत्रु के देश पर आक्रमण करते थे। शस्त्रास्त्र से सज कर, हाथी घोड़े पर चढ कर, नगर के बाहर जुलूस ले जाने का रिवाज आज भी है। वहाँ शमी का और अपराजिता देवी का पूजन सीमोल्लंघन का मुख्य भाग है। पुराणो मे कथा है कि महिषासुर से श्रीजगदम्बा ने नौ दिन युद्ध करके विजयादशमी के दिन उसका वध किया। इसीसे अपराजिता की पूजा और महिष (भैसे) का बलिदान करने का रिवाज पडा है।

ऐसा माना जाता है कि शमी और अश्मन्तक वृक्ष में भी शत्रु के नाश करने का गुण है। अश्मन्तक कहते हैं धत्तुरा के पेड़ को। जहाँ शमी नहीं मिलती है, वहाँ धत्तुरे के पेड की पूजा होती है। धत्तुरे के पत्ते का आकार सोने के सिक्के की तरह गोल होता है और जुड़े हुए कार्ड (Reply Card) की तरह उसके पत्ते मुड़े हुए होते हैं, जिससे वे खूबसूरत दिखाई देते है।

दशहरे के दिनो तक चौमासा लगभग खतम हो जाता है। शिवाजी के किसान सैनिक दशहरे तक खेती की चिन्ता से मुक्त हो जाते थे। कुछ काम बाकी न रहता था। सिर्फ एक ही फसल

काटना बाकी रहता था। पर उसे तो घर की औरते, बच्चे और बूढ़े लोग कर सकते थे। इससे सेना इकट्ठी करके स्वराज्य की हद बढ़ाने के लिए सब से नजदीक मुहूर्त दशहरे का था। इसी कारण महाराष्ट्र मे दशहरे का त्योहार अत्यन्त लोक-प्रिय था और आज है भी।

हम देख चुके है कि विजयादशमी के एक त्योहार पर अनेक सस्कारो, अनेक संस्करणो और अनेक विश्वासो की तहें चढ़ी हुई है। कृषि-महोत्सव क्षात्र-महोत्सव हो गया। सीमोल्लंघन का परिणाम दिग्विजय तक पहुँचा। स्व-संरक्षण के साथ सामाजिक प्रेम और धन का विभाग करने की प्रवृत्ति का संबंध दशहरे के समय जुड़ा। परन्तु एक ऐतिहासिक घटना को अभी हम दशहरे के साथ जोड़ना भूल गये हैं, वह इस ज़माने मे अधिक महत्वपूर्ण है। "दिग्विजय से धर्मजय श्रेष्ठ है। वाह्य शत्रु का वध करने से हृदयस्थ षड्रिपुओ को मारने मे ही महान् पुरुपार्थ है, नव धान्य की फसल काटने की अपेक्षा पुण्य की फसल काटना अधिक चिरस्थायी होता है"— यह उपदेश सारे ससार को देने वाले मारजित्, लोकजित् भगवान् बुद्ध का जन्म विजया दशमी के शुभ मुहूर्त मे ही हुआ था। विजयादशमी के दिन बुद्ध भगवान् का जन्म हुआ और वैशाखी पूर्णिमा के दिन उन्हे शान्तिदायी चार आर्य तत्वो और अष्टांगिक मार्ग का बोध हुआ, यह बात हम भूल ही गये है। विष्णु का वर्तमान अवतार बुद्ध अवतार ही है। इसलिए विजयादशमी का त्योहार भगवान् बुद्ध के मार-विजय को स्मरण करके ही हमे मनाना चाहिए।

दिवाली

प्रत्येक घर के दीवानखाने मे कोई न कोई सुंदर वस्तु रखने का रिवाज होता है। यदि वाहर का कोई आदमी आवे और स्वभावतः ही उसकी नजर उस पर पड़ जाय तो उसके मुँह से निकल उठता है—"कैसी वढ़िया चीज है। तुमने कहाँ से पाई ?" किन्तु अजायवघर मे तो जहाँ देखिए, वहाँ सुंदर ही सुंदर वस्तुएँ दिखाई देती है; देखकर मनुष्य वड़ा खुश होता है। लेकिन साथ ही साथ वह उतना ही पशोपेश में भी पड़ जाता है। वह इसी खयाल मे रहता है कि क्या देखूँ और क्या न देखूँ ?

दिवाली त्योहारो का एक ऐसा ही अजायव-घर है। वह सव त्योहारो का स्नेह-सम्मेलन माना जाय तो भी उचित होगा। दिवाली का त्योहार पाँच दिन का माना जाता है। लेकिन सच पूछिए तो ठेठ नवरात्रि के त्योहार से उसकी शुरूवात होता है और यम-द्वितीया की भाई-दूज की भेट मे उसके आनन्द की परिसमाप्ति होती है।

धर्म-शास्त्र मे प्रत्येक त्योहार का माहात्म्य और कथा दी हुई होती है। दीवाली के सम्बन्ध मे इतनी अधिक कथायें हैं कि उन्हें लिखने वैठें तो एक वड़ा पोथा हो जाय। धन-तेरस की कथा जुदी, नरकचौदस की जुदी और उसमे अमावस (दीवाली) की तो एक खास कथा होती है। उसके वाद विक्रम का नया वर्ष शुरू

होता है और द्वितीया के रोज़ भाई, बहन के घर अतिथि होता है। दिवाली गृहस्थाश्रमियों का त्योहार है। जन-समाज का त्योहार है। श्रावणी के दिन धर्म और शास्त्र की प्रधानता रहती है, दशहरे के दिन युद्ध और शस्त्रों का प्राधान्य रहता है; दिवाली के दिन लक्ष्मी और धन का प्राधान्य रहता है; और होली खेल तथा रंग-राग का त्योहार है। जैसे मनुष्यों के चार वर्ण हैं, वैसे ही त्योहारों के भी चार वर्ण हो गये हैं।

पुरातन काल में लोग श्रावणी के रोज़ जहाज़ों में बैठ कर समुद्र पार देश-देशान्तर में सफर को जाते थे। दशहरे के दिन राजा-लोग और दूसरे योद्धागण अपनी सरहद पार करके शत्रु पर चढ़ाई करने जाते थे और दिवाली के दिन राजा और व्यापारी गण दोनों स्वदेश में वापस आते और कौटुम्बिक सुख का उपभोग करते थे।

पुराणों में कथा है कि नरकासुर नाम का एक पराक्रमी राजा प्राग्ज्योतिष में राज्य करता था। भूतान के दक्षिण तरफ जो मुल्क है उसे प्राग्ज्योतिष कहते थे। नरकासुर दूसरे राजाओं से लड़ता था। यह तो घड़ी भर सहन कर लिया जा सकता था, किंतु उस दुष्ट ने तो स्त्रियों को भी सताना शुरू किया ! सोलह हज़ार राज-कन्यायें उसके कारागार में थीं। श्रीकृष्ण ने विचार किया कि यह स्थिति हमारे लिए कलंक-रूप है। अब नरकासुर का नाश करना ही होगा। सत्यभामा ने कहा—"आप स्त्रियों के उद्धार के लिए जाते हैं तो फिर मैं घर रह सकती हूँ ? नरकासुर के साथ मैं ही लड़ूंगी, आप भले ही मेरी मदद में रहें।"

श्रीकृष्ण ने यह बात क़बूल की। सत्यभामा रथ में आगे बैठी

थी; श्रीकृष्ण मदद के लिए पीछे बैठे थे। नरकासुर का नाश चतुर्दशी के दिन हुआ, देश स्वच्छ हो गया। लोगो ने आनन्द मनाया। नरकासुर का बड़ा भारी जुल्म दूर हुआ, यह दिखाने के लिए लोगों ने रात को दीपोत्सव मनाया और अमावस के दिन भी पूर्णिमा की शोभा दिखलाई।

लेकिन यह नरकासुर एक बार मारने से मरता नहीं है। उसे तो हर साल मारना पडता है। चौमासे मे सब जगह कीच हो जाता है। उसमे पेड़ की पत्तियाँ, गोबर और कीडे वगैरह पड़ जाते है और इस तरह गॉव के आस पास नरक—गंदगी—हो जाती है। वर्षा के बाद भादो की धूप पड़ती है और इस नरक की दुर्गन्ध हवा मे फैलती है। इससे लोग बीमार पड़ते हैं। फिर बहादुर लोग कुदाली फावडा वगैरह लेकर इस नरक के साथ लड़ने जाते, गॉव के आस पास के नरक का नाश करते और घर आकर बदन पर तेल मल कर नहाते हैं। गोशाला तो साफ़ की हुई होती ही है, उसमे से मच्छरो को निकाल देने के लिए रात को उसमे दिया जलाते और फिर प्रसन्न होकर मिष्टान्नो और पकवानो का भोजन करते है।

दिवाली के बाद नया वर्ष शुरू होता है और घर मे नया अनाज आता है। हिंदुओ के घरो मे वेद-काल से लेकर आज तक यह नवान्न की विधि बहुत श्रद्धा-पूर्वक की जाती है। महाराष्ट्र मे भोजन से पहले एक कड़वे फल का रस चखने की प्रथा है। इसका उद्देश यह होगा कि बिना कड़वी मिहनत के किये मिष्टान्न नहीं मिल सकता। भगवद्गीता मे भी लिखा है कि आरंभ मे जो जहर के समान है और अन्त मे अमृत के समान,

वही सात्विक सुख है। गोवा मे दिवाली को चिउड़ा का मिष्टान्न बनाते हैं और जितने भी इष्टमित्र हो, उन सबको उस दिन निमंत्रण देते हैं। अर्थात् प्रत्येक जन को अपने प्रत्येक इष्टमित्र के यहाँ जाना ही पड़ता है। सब के यहाँ फलाहार रक्खा रहता है। उसमे से एक टुकड़ा खाकर वे दूसरे के घर जाते हैं। चाहे उनके व्यवहार मे कटुता आई हो, दुश्मनी बँधी हो या जो कुछ भी हुआ हो, लेकिन वे दिवाली के दिन मन से सब निकाल देते हैं और नया प्रीति-सबंध जोड़ते हैं। जिस प्रकार व्यापारी दिवाली पर सब लेन-देन चुका देता है और नये वही-खातो में बाक़ी नहीं खींचता, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य, हृदय में कुछ भी जहर या वैर बाकी नहीं रहने देता। जिस दिन बस्ती में से नरक-गंदगी निकल जाय, हृदय मे से पाप निकल जाय, रात्रि में से अंधकार निकल जाय और सर पर से करज दूर हो जाय, उस दिन से बढ़कर दूसरा पवित्र दिन कौन हो सकता है ?

परशुराम और बुद्ध

जिस प्रकार द्रौपदी और सीता दो जुदे जुदे आदर्श हैं, उसी प्रकार राम और कृष्ण भी जुदे जुदे आदर्श हैं। प्राचीन काल से हम को आदर्शों के साधर्म्य और वैधर्म्य, साम्य और वैषम्य को देखते आये हैं। अन्त को हमने दोनो आदर्शों का सार अपने जीवन मे उतार कर इन दोनो का समन्वय कर डाला है। जिस दिन यह समन्वय हमने किया, उसी दिन 'राम—कृष्ण' यह सामासिक नाम हमे सूझा। जिस दिन हमे यह दिखाई दिया कि जो राम है, वही कृष्ण है, जो शान्ता है वही दुर्गा है, जो शिव है वही रुद्र है, जो जनार्दन है, वही विश्वेश्वर है, उस दिन हिन्दू तत्व-ज्ञान को समाधान हुआ। तात्विक खोज मे एक पूर्ण विराम मिला। पूर्ण विराम से नया वाक्य शुरू होता है। दो आदर्शों के विवाह से नयी सृष्टि उत्पन्न होती है।

परशुराम और बुद्ध दोनो विष्णु के ही अवतार माने जाते हैं। पर हम उन्हे अपने कल्पना-क्षेत्र मे कभी एक दूसरे के नज़दीक लाये हैं? परशुराम और बुद्ध! इन दोनो मे भला कुछ भी साधर्म्य या वैधर्म्य है?

परशुराम ब्राह्मण-क्षत्रिय है, भगवान् बुद्ध क्षत्रिय ब्राह्मण हैं। परशुराम ने ब्राह्मण होते हुए मन्यु (क्रोध) को आज़ादी दे कर शारीरिक बल पर आधार रक्खा। शाक्य मुनि ने क्षमा को प्रधान

पद देकर आत्मिक बल का गौरव बढ़ाया। परशुराम को क्षत्रिय की सत्ता प्रजापीड़क मालूम हुई। ईश्वर ने मनुष्य को दो ही बाहु दिये हैं और सो भी उद्योग के लिए। क्षत्रिय लोग सहस्र-बाहु हो जायँ और हर एक बाहु शस्त्र धारण करे तो बेचारा दीन समाज कहाँ जाय ? रक्षा करना क्षत्रिय का काम है; पर वही जब प्रजाभक्षक हो जाते है, तब प्रजा की रक्षा कौन करे ? परशुराम ने सोचा कि क्षत्रियो का शास्ता ब्राह्मण है। बात मच है, परन्तु क्षत्रियो का शासन करते हुए ब्राह्मणो को अपना ब्राह्मण्य हरगिज न गवाँ बैठना चाहिए।

परशुराम हाथ मे भारी परशु लेकर सहस्रबाहु की भुजायें काटने लगे। क्षत्रियों की पीड़ा मिटाने के लिए क्षत्रियों को इक्कीस बार पोड़ित किया।

परशुराम ने क्षत्रिय के तमाम गुण प्राप्त किए थे। क्षत्रिय के मानी हैं—सिपाही। सिपाही को चाहिये कि वह अपने सरदार का हुकुम तुरन्त बजा लावे। मातृभक्त परशुराम ने पिता का हुक्म होते ही माता का सिर धड़ से उड़ा दिया। ब्राह्मण ऐश्वर्य से दूर रहते हैं। क्षत्रिय ही पृथ्वी को जीतता है और दान करता है। परशुराम नें जीता और दान का ही रास्ता पसन्द किया।

अब बुद्ध को लीजिए। उन्होने राज्य का त्याग कर दिया। अपनी शान्ति के द्वारा मार (काम) पर विजय प्राप्त किया, करुणा का प्रचार किया। परशुराम के कारण क्षत्रिय भयभीत हो उठे और उन्होने आत्मरक्षा के लिये संघ-बल का साम्राज्य स्थापित किया। भगवान् बुद्ध के बदौलत उनके शिष्य निर्वैर हो गये और उन्होने अभय का साम्राज्य स्थापित किया।

परशुराम के कार्य का असर उनके समय मे जो कुछ हुआ हो, आज तो नही के बराबर है। परशुराम के कारण साम्राज्य की कल्पना उत्पन्न हुई। साम्राज्य की कल्पना ने दिग्विजय का मोह पैदा किया और दिग्वजय को कल्पना का अर्थ है, निरन्तर विग्रह। जैसा कि भगवान् बुद्ध ने धम्मपद मे कहा है, विजय कलह का मूल है। क्योकि पराजित व्यक्ति के हृदय मे अपमान का काँटा बराबर चुभता रहता है और वह दुनिया को शान्ति नही प्राप्त होने देता। भगवान् बुद्ध का असर परशुराम से अधिक गहरा और व्यापक हुआ। परशुराम हिसामार्गी थे, बुद्ध अहिंसा-मार्गी। हिसा मे वीर्य नही। हिसा ने अबतक न तो किसी अच्छे तत्व का नाश किया है, न किसी बुरे तत्व का। हिसा ने जितना दुर्जनो के शरीर का नाश किया है, सज्जनो के शरीर का भी उतना ही नाश किया है। परन्तु दुनिया की सज्जनता और दुर्जनता हिसा से अस्पष्ट ही रही है।

अहिसा की विजय स्थायी होती है, पर कब? जब राज्य-सत्ता की सहायता के बिना हो, तब। सत्य और सत्ता परस्पर विरोधी हैं। जब जब सत्य ने सत्ता की सहायता ली है, तब तब सत्य अप-मानित हुआ है और अपंग बना है। सत्य का शत्रु असत्य नही। असत्य तो अभाव रूप है, अन्धकार रूप है। सत्य को असत्य से लड़ना नहीं पड़ता। जहाँ सत्य का प्रकाश नही पहुँचता, वही असत्य का अन्धकार होता है। असत्य का स्वतन्त्र अस्तित्व ही नही। सत्य का शत्रु है सत्ता। परशुराम ने सत्ता के द्वारा—बल के प्रभाव के द्वारा—सत्य का अर्थात् न्याय का प्रचार करना चाहा। बुद्ध भगवान् के अनुयायियो ने भी साम्राज्य की प्रतिष्ठा के द्वारा

सत्य का प्रचार करना चाहा। तब सत्य लज्जा से सङ्कुचित हो गया।

अब समय आया है जब परशुराम की न्याय-निष्ठा और बुद्ध भगवान् की अवैर निष्ठा का सम्मेलन हो। मन में रत्ती भर द्वेष या विष रक्खे बिना अन्याय का प्रतिकार करना, सत्ता से जूझना, यही आज का युगधर्म है। क्या यही सत्याग्रह नहीं है?

हिन्दुस्थान की राष्ट्र-भाषा

हमारा प्रयत्न हिन्दुस्थान मे एक भाषा करने का नही। हिन्दुस्थान से हमारा यह भी अभिप्राय नहीं है कि भिन्न भिन्न प्रान्तो की भापायें नष्ट होकर भारत में एक ही भाषा रहे। हिन्दुस्थान जैसे विशाल राष्ट्र की सर्वाङ्गीण उन्नति होने के लिए भिन्न भिन्न गुण और स्वभाववाली प्रान्तीय जातियो की जितनी आवश्यकता है, उतनी ही भारतीय सस्कृति के सार्वदेशीय विकास के लिए भिन्न भिन्न भाषाओ की भी आवश्यकता है। किन्तु जैसे भिन्न भिन्न इन्द्रियो मे सञ्चार करने वाला मन तो एक ही है, जिसके द्वारा सम्पूर्ण शरीर मे एकरूपता और एकप्राण का सञ्चार होता है, उसी तरह आज हिन्दुस्थान मे एकराष्ट्रीयता की भावना जागृत करने के लिए तथा व्यक्त करने के लिए, राष्ट्रीय-भाषा की अत्यन्त आवश्यकता है। पर यह आवश्यकता आज ही उत्पन्न हुई हो, सो नही। बहुत प्राचीन काल से हिन्दुस्थान मे प्रयत्न पूर्वक राष्ट्रीय-भाषा निर्माण करके, उसे विकसित किया गया है। जब हिन्दू-राष्ट्र तेजस्वी था, सुसंस्कृत था, सम्पूर्ण जगत् में श्रेष्ठ था, उस समय हिन्दुस्थान के उत्तमोत्तम विचार, आर्यों के काव्य और तत्त्व ज्ञान, आर्यों के पराक्रमो के वर्णन, और आर्यों की शास्त्रीय खोजे आदि सभी शुद्ध, उदात्त और संस्कृत भाषा मे किये जाते थे और इसीलिए उस भाषा को देववाणी का गौरवान्वित पद प्राप्त हुआ।

जब हिन्दुस्थान की अवनति हुई, भारत की अभिरुचि बिगड़ी, तब भी हीन विचार और अश्लील कल्पनाओ से संस्कृत भाषा को दूषित कर देना, उस वक्त के लोगो ने ठीक न समझा। इसलिए उन्होने प्राकृत-भाषा का आश्रय लिया। संस्कृत-भाषा में आर्यों को शोभित करने वाले शुद्ध विचार ही लिखे जाते थे। आगे चलकर यह स्थिति भी भ्रष्ट हुई, राष्ट्रीय-जीवन क्षीण हुआ और फिर कुछ भी नियम न रह गया। बीच मे हिन्दुओ ने फिर से खड़े होने का प्रयत्न किया, और उस समय भी उन्होंने श्रेष्ठ विचारो के लिये संस्कृत-भाषा ही का दोहन किया। पर लोक-जागृति के लिये उस समय की प्रचलित भाषाओ को उपयोग में लाने के सिवा दूसरा चारा नहीं था। अतः जहाँ तक हो सका संस्कृत-वाङ्मय का प्रचलित भाषाओ मे रूपान्तर कर दिया गया। आज राष्ट्रीय-जीवन फिर से जोरो के साथ फूत्कार मारने के लिये प्रयत्न कर रहा है। उसे प्रकट करने के लिये राष्ट्रीय-भाषा की भी आवश्यकता उत्पन्न हुई है, अतः सवाल खड़ा हुआ कि यह राष्ट्र-भाषा कौन सी हो ? यह एक अत्यन्त व्यावहारिक प्रश्न हमारे सामने उपस्थित हुआ है। राष्ट्र की उन्नति तो पूर्ण-परम्परा का अनुसरण करके ही हो सकती है, यह महान् सिद्धान्त जिसे मान्य है, उसके आगे यह सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं कि आज की राष्ट्र-भाषा संस्कृत-परम्परा का अनुसरण करके ही होनी चाहिये।

पर आज भारत मे केवल हिन्दू ही नहीं रहते। अद्वैत-वादी, प्रेम-धर्मी हिन्दुस्थान में इस्लाम और इस्लामी संस्कृति को हमेशा के लिए स्थान मिला है, और इससे भारत की राष्ट्रीय-संस्कृति को एक शिष्ट मार्ग प्राप्त हुआ है। यह मार्ग भी राष्ट्रीय-भाषा में

व्यक्त होना चाहिये। यह प्रयत्न मुसलमानी राज्य के उत्कर्ष-काल मे हुआ था। बड़े बड़े हिन्दू पण्डित अरबी और फारसी भाषा का अध्ययन करके, उन भाषाओ मे अप्रतिम काव्य लिखते थे और बहुतेरे मुसलमानी बादशाह संस्कृत-पण्डितो को आश्रय देकर और स्वयं संस्कृत-साहित्य का अध्ययन करके हिन्दू-संस्कृति का रहस्य समझ ने की कोशिश करते थे। इस तरह धीरे धीरे हिन्दुस्थान की भाषा निर्माण हुई। हिन्दी और उर्दू उस भाषा के दो स्वरूप हैं। मुसलमानी राज्य मे धार्मिक विरोध पूर्णता से नष्ट न हो सका—हिन्दू और मुसलमानो की रहन-सहन एक न हो सकी और इसी कारण हिन्दी और उर्दू इन दोनो के बीच का भेद बना रहा। वर्तमान स्थिति मे वह विरोध तेजी के साथ घटता जा रहा है और इसलिये सम्भव है कि थोडे प्रयत्न से हिन्दी और उर्दू इन दोनो के बीच का भेद बहुत ही घट जाय। मुसलमानी सत्ता के बाद अँगरेजी राज्य की और अँगरेजी संस्कृति का बहुत ही प्रबल प्रभाव हम पर पड़ा है, जिसके कारण हिन्दुस्थान की सभी भाषाओं पर और जनसमुदाय की विचार-शैली पर अँगरेजी पद्धति का प्रभाव पड़ा है। वह सर्वथा अनिष्ट है, यह भी नही कहा जा सकता। अँगरेजी विचार-पद्धति और अँगरेजी ढङ्ग की वाक्य-रचना केवल आधुनिक सुशिक्षित गण की भाषा ही मे दिखती है। जन-साधारण की भाषा को उसका स्पर्श नही हुआ। यह भी एक तरह से इष्ट ही है।

अँगरेजो ने भारत को अपना देश नहीं बनाया है। उन्हें तो यहाँ केवल राज्यकर्ता ही के समान रहना है। उन्हें हिन्द-पुत्र नही होना है, इसीलिए उनकी भाषा भी यहाँ कदापि बद्ध-

मूल न होगी। जिस तरह हम पर अँगरेजी संस्कृति का प्रभाव पड़ता है किन्तु अँगरेज लोग हमारे साथ नहीं रहते हैं, न हमारे साथ मिलते-जुलते ही हैं, उसी तरह अँगरेजी साहित्य और उनकी विचार-पद्धति का प्रभाव हम पर होते हुए भी अँगरेजी भाषा का हिन्दुस्थान में राष्ट्र-भाषा होना या बने रहना सम्भवनीय नहीं। राष्ट्र-भाषा तो हिन्दी ही हो सकती है।

किन्तु यह हुआ सामान्य सिद्धान्त पर 'नर साँची करनी करे, तो नर का नारायण होय' इस तत्व के अनुसार प्रयत्न करने पर कोई भी बात अशक्य नहीं। पाश्चात्य-संस्कृति और आर्य संस्कृति—इन दोनों के बीच की विषमता देखते हुए कोई यह नहीं कह सकता था कि हिन्दुस्थान में पाश्चात्य-प्रजा का राज्य होगा, किन्तु हम आँखों देखते हैं कि वही आज सत्य हो गया। इसी तरह यदि हम सोते ही रहेंगे तो पुरुपार्थी अंगरेज लोग कालान्तर में अंगरेजी को केवल भारत की राष्ट्रीय-भाषा ही नहीं, किन्तु देश की भी एक भाषा कर सकेंगे। यह मान लेने के लिये बहुत से प्रबल कारण पाये जाते हैं कि उनकी सचमुच यह अभिलाषा है भी। आज तक उनकी शिक्षा-नीति इसी दिशा मे अपना काम कर रही है। और वह सफल हुई है। ऐसे आनन्दोद्गार हाल ही मे बड़े लाट साहब के मुख से जानते या अनजान में निकल पड़े हैं। वे तो यह भी सुख-स्वप्न देख रहे हैं कि थोड़े ही दिनो में अंगरेजी हमारे घरों मे घुस जायगी।

अब यह विचार करना चाहिये कि आर्यों के वंशजों और आर्य-संस्कृति के अभिमानियो को ऐसा होने देना इष्ट है या नहीं? हम स्वीकार करते हैं कि अँगरेजी राज्य से हमें कुछ लाभ पहुँचा है। इसी तरह अँगरेजी भाषा की उपयोगिता भी हमे मान्य है।

परन्तु अपने धर्म के लिये, अपनी संस्कृति के लिये, अपने पूर्वजो के नाम के लिये और अपने वंशजो के ऐहिक और पारलौकिक कल्याण के लिये हम अपनी देश-भाषा—मातृ-भाषा को छोड़ नही सकते। हमारे राष्ट्र का प्राण—हमारी राष्ट्रीय-भाषा तो हिन्दू और मुसलमानो मे आज सैकड़ो वर्षों से अभेदभाव रखने वाली हिन्दी भाषा ही होनी चाहिये। ॲगरेजी भाषा को राष्ट्र-भाषा के सिहासन पर बिठाना हमारी संस्कृति को तिलाञ्जलि देने के समान है। हमारे एक भारी विद्वान् की राय है कि सुशिक्षितो की सामान्य भाषा ॲगरेजी हो और अशिक्षितो की सामान्य भाषा हिन्दी। वे एक प्रौढ़ विद्वान् है और उनका विरोध करने योग्य शक्ति मुझ मे नही, तो भी मुझे इतना तो स्पष्ट विदित होता है कि यह बात साधारण रीति से अशक्य है, और वह अशक्य है, यह परमेश्वर की बड़ी ही कृपा समझनी चाहिये। यदि सुशिक्षित और अशिक्षित की भाषाओ मे इतना भेद हुआ तो राष्ट्र का प्राण गया ही समझिएगा। योरप मे श्रीमान् और निर्धन ऐसे भेद समाज मे पड़ जाने से दोनो विभक्त हो गये। अतएव वहाॅ के समाज मे कैसे भयङ्कर उत्पात होते है, इसका वर्णन हम लोग पढ़ते हैं। हमारे देश मे सुशिक्षित और अशिक्षित के बीच मे फूट होकर वह यहाँ तक पहुॅच जाय कि हमारी उनकी भाषा मे ही भिन्न हो जाय तो कितना भयङ्कर अनर्थ होगा! इसको कल्पना मात्र करने से भी रोमाञ्च हो जाते हैं। जिस समय सुशिक्षित-पन संस्कृत-भाषा के आश्रय मे रहा था, उस वक्त के सुशिक्षित विद्वान् समाज से भिन्न नही हो गये थे। वे अपनी संस्कृति को जन-समाज मे अन्तिमान्तिम श्रेणी के मनुष्यो तक पहॅुचा देते थे

अँगरेज़ी द्वारा शिक्षा-प्राप्त समाज आज ही प्रजा से विछुड़ा हुआ नजर आता है। फिर भाषा-भेद हो जाने पर तो समाज का उच्छेद ही होजायगा।

अँगरेज़ी राज्यकर्त्ताओ की भाषा है और इसीलिए हमें उसे अपनी राष्ट्र-भाषा बना लेना चाहिये, ऐसा कहनेवाला भी एक दल सुशिक्षितों मे है। ऐसी राय यदि अशिक्षित-दल की होती तो तो इसमे कोई आश्चर्य नही मालूम होता, क्योकि राजा तो राज्य का स्वामी है, उसकी इच्छा के अनुसार प्रजा को चलना चाहिये, यही उनकी भावना होती है। परन्तु शिक्षित-दल तो जानता है कि राज्य प्रजा के हित के लिये है और राजा प्रजा-हित का सेवक है। सुशिक्षितों को तो उलटा यह करना चाहिये कि यदि राजा को अपने कर्तव्य का भली भाँति पालन करना है तो उसे प्रजा की सस्कृति के साथ एक रूप होकर प्रजा ही की भाषा मे बोलना चाहिये, प्रजा ही की भाषा मे विचार करना चाहिये, और प्रजा ही की भाषा मे उसे स्वप्न देखने चाहियें। गुर्जराधिपति सयाजी-राव ने इसी तत्त्व को समझ कर राष्ट्र भाषा को राज-भाषा बनाया। यदि आज बड़ोदा मे फिर से मराठी राजभाषा हो जाय तो इसे कौन अच्छा कहेगा? इसी न्याय से सारे हिन्दुस्थान मे देशी भाषा ही राजभाषा होनी चाहिये, इस राय की पुष्टि हम क्यो न करे?

देशी भाषाओं मे से ही एकआध राजभाषा होनी चाहिये, इतना सिद्ध हो जाने पर हिन्दी का ख़ास पक्षपात करने की विशे आवश्यकता रह ही नहीं जाती। शक्याशक्य का विचार तो केवर सुशिक्षित ही करते है। जन-समाज ने तो उस प्रश्न का निर्णय जाने कब से कर रक्खा है। एक बात अभीष्ट मालूम हो जा

पर उसकी शक्यता का विचार करते हुए बैठे रहना तो कायरता है। ऐसे चिन्तवनो मे कालयापन करना पौरुषहीन लोगो का काम है। सारे हिन्दुस्थान मे ईमानदारी से द्वारपाल की नौकरी करनेवाला भी सिद्ध करता है कि हिन्दी सार्वत्रिक भाषा हो सकती है। हिन्दुस्थान के अनेक पंथो के साधुओ ने भी इस प्रश्न का निराकरण किया है। साधु चाहे बङ्गाली हो, चाहे मद्रासी, पर वह हिन्दी मे ही बोलेगा। यात्रा करनेवालो का अनुभव देखने से भी हिन्दी ही राष्ट्र-भाषा मालूम होती है। कैलास से रामेश्वर तक और द्वारका से कामाक्षी तक हिन्दी से भली भॉति काम चल सकता है।

बहुतेरो का प्रश्न यह होता है कि यद्यपि हिन्दुस्थान मे लोग अधिकांश हिन्दी जानते हो, तो भी राष्ट्र-भाषा के श्रेष्ठ पद को प्राप्त कर सकने के योग्य प्रौढ़ वाङ्मय उसमे कहॉ है? पर यह कहकर भ्रमात्मक होगा कि हिन्दी का वाङ्मय प्रौढ़ नही। प्राकृतिक वर्णन करनेवाली कवितायें लीजिये, शृंगार, वीर, करुणा भक्ति या और कोई दूसरा रस लीजिये, उन सभी मे संसार की किसी भी भाषा से हिन्दी पीछे नही पड़ सकती। जिस भाषा मे तुलसीदासजी ने अपनी रामायण लिखी, जिस भाषा मे कबीर-दासजी ने भक्ति-मार्ग का प्रतिपादन किया, जिस भाषा मे गोपियों के साथ श्रीकृष्ण का प्रेम प्रकट हुआ, जिस भाषा मे विचार सागर जैसे वेदान्त-रत्न रचे गये, जिस भाषा मे सूरदासजी का कविता-सागर उमड़ रहा है, और जिस भाषा मे भूषण कवि ने गो-ब्राह्मण प्रतिपालक शिवाजी के प्रताप का वर्णन किया, उस का वाङ्मय प्रौढ़ नही, यह कौन कहेगा? आधुनिक शास्त्रीय शोधो

कीं पुस्तकें हिन्दी में न हों और इतिहास तथा राजनीति की मीमांसा करनेवाली पुस्तके उसमें न हों, तो भी यह दोप उस भापा का नहीं। मध्यकालीन हमारे जीवन का एकाङ्गी भाव ही इस स्थिति का उत्तरदाता है। हमारा जीवन व्यापक हुआ नहीं कि हिन्दी भापा भी देखते ही देखते उस दिशा की ओर वेग से वढ़ी नहीं। जिस भापा ने साहित्य के एक विभाग मे अपना सामर्थ्य, अपनी चमता और अपना उत्कर्प प्रकट किया है, वह भापा अन्य विभागो मे लँगड़ी रहेगी, यह संशय ही अयुक्त है।

आधुनिक साहित्य मे हिन्दी कुछ पीछे है, तो भी एक तरह से वह पिछड़ना उसकी राष्ट्र-भापा होने की योग्यता को वढ़ाता है। उसे वङ्गाली, मराठी और गुजराती आदि सभी प्रांतों मे लोग सुगमता से अपने अनुकूल वना कर सचमुच राष्ट्र-भापा वना सके, ऐसी स्थिति स्थापक है और आज वही प्रयत्न चल रहा है। विद्वत्ता-पूर्ण कितनी ही वॅगला पुस्तकें हिन्दी मे अनुवादित हो रही हैं। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, वङ्किमचन्द्र चट्टोपाध्याय, रामकृष्ण परमहंस, और रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि वगाली विद्वान् और साधु-गण हिन्दी वेप धारण कर हमारे साथ भापण करने लगे है। महाराष्ट्र के ज्ञानेश्वर और रामदास आदि हिन्दी में उपदेश करने लगे हैं। तिलक का 'गीता-रहस्य' महाराष्ट्र के साथ ही उत्तर हिंदुस्थान को भी मिला है। सरदेसाई के अनेक वर्पों के प्रयत्नो का फल हिन्दी को एक ही अनुवाद मे प्राप्त हुआ है। गुजरात के 'सरस्वती चन्द्र' जैसी पुस्तके भी हिन्दी रूप धारण कर के गुजरात के विद्वद्रत्नो की प्रतिभा का परिचय कराती हैं। पढ़ीआर की पुस्तकों के अनुवादों ने सामान्य हिन्दी मनुष्यो को

स्वर्ग की कुञ्जी बतलाई है। महात्मा गांधी का 'आरोग्य विषयक सामान्य ज्ञान' हिन्दी वालो को भी सुलभ हो गया है।

यद्यपि इस प्रश्न की विशेप चर्चा महाराष्ट्र मे नही हुई कि हिन्दुस्थान की राष्ट्र-भाषा कौन सी होनी चाहिये, तो भी महाराष्ट्र के संस्थापको ने महाराष्ट्र के लिये उसका निराकरण कर दिया है। शिवाजी ने हिन्दी-नवरत्नों मे से भूषण कवि को बुलाकर उन्हे अपना राजकवि बनाया और उन्हे कन्याकुमारी से हिमालय तक भेज कर हिन्दी को राष्ट्र-भाषा का स्थान दिया है, और इसी से सातवलेकर, दिवेकर, सप्रे और मगादे, पराड़कर और तामसकर साठे और गर्दे, जैसे मराठी लोग हिन्दी की सेवा कर रहे हैं। और यह बात कुछ आजकल की नहीं, नामदेव और तुकाराम आदि साधुओं ने भी हिन्दी मे पद्य-रचना की है। दरजी जाति के महाराष्ट्रीय साधु नामदेव की हिन्दी कविता सिक्ख लोगो के पवित्र धर्म-ग्रन्थो मे सम्मिलित की गई है।

गुजरात की ओर से मीराबाई, अखा, दयाराम और दलपत-राम आदि ने भी हिन्दी को अपना कर चुकाया है। प्रेमानन्द के पहले गुजरात मे ग्रन्थो की रचना भाषा (ब्रज-भाषा) ही मे हो, ऐसा माना जाता था। प्रेमानन्द के बाद गुजराती भाषा मे काव्य-रचना होने लगी, तो भी हर एक प्राचीन कवि ने हिन्दी मे भी अपनी लेखनी चलाई है।

यह सब तो हुई हिन्दी की सेवा। किन्तु चिरकाल से उपेक्षित और क्षीण हिन्दी को स्वाभिमान की अमृत-सजीवनी पिला कर उसमे नवजीवन का सञ्चार करा देने वाले धन्वन्तरि एक गुर्जर-पुत्र थे, इस विचार से किस गुजराती को अभिमान उत्पन्न

हुए विना न रहेगा ? स्वामी दयानन्दजी ने हिन्दी को 'आर्य-भाषा' यह गौरव-पूर्ण नाम देकर पञ्जाब जैसे पिछड़े प्रान्त में भी उसकी प्रतिष्ठा की है।

इस तरह गुजराती, दक्षिणी और बङ्गाली लोगों ने हिन्दी को अपना कर उसकी सेवा की है। अतएव उसका प्रान्तीयत्व नष्ट हो गया और शब्द-प्राचुर्य के सम्बन्ध मे, वाक्य-रचना की विविधता मे और विवेचन-पद्धति के सौष्ठव मे वह गम्भीर, ललित, विपुलार्थ-वाहिनी और राष्ट्रीय वनती जाती है, इसी से आज एक महाराष्ट्रीय नाटक-मण्डली कलकत्ते मे जाकर हिन्दी भाषा मे नाटक करके वङ्गाली रसिकों का मनोरञ्जन कर सकती है।

जिस तरह नदियाँ पर्वत से धो धो शब्द कर वहती हुई अपनी गोद के बच्चों को *खूब †दूध पिलाती हुई अपना जल महासागर को अर्पण करती है, उसी तरह आज किसी भी हिन्दुस्थानी भाषा का उत्तम ग्रन्थ हो (फिर चाहे वह स्वतन्त्र लिखा गया हो चाहे, किसी पाश्चात्य-ग्रन्थ का अनुवाद हो) हिन्दी मे उसका भाषान्तर तत्काल हो जाता है। एक ही ग्रन्थ के गुजराती, मराठी और वङ्गाली-तीन स्वतन्त्र भाषान्तर सम्मुख रखकर जब हिन्दी-लेखक उसका हिन्दी में अनुवाद करता है, तब मूल-लेखक का रहस्य द्राक्षापाक के समान प्रकट होता है।

इसलिये कौन सी भाषा हिन्दुस्थान की राष्ट्र-भाषा होने के योग्य है, अथवा हिन्दी भाषा राष्ट्र-भाषा होने के योग्य है या नहीं,

---

* छोटे छोटे टीले आदि † पानी।

आदि कायरो को भड़का देने वाली अनंत शकाओ से सिरपच्ची न करके, हमे इसीका विचार मुख्यतः करना चाहिये कि हिन्दी भाषा का प्रसार राष्ट्र-भाषा के रूप मे शीघ्रता से कैसे हो। थोड़ी बहुत हिन्दी तो हम सब समझते हैं, किन्तु आज की परिस्थिति को ध्यान मे रखकर हिन्दुस्थान के भिन्न भिन्न प्रान्तो के साथ व्यवहार बढ़ाकर राष्ट्र-संघटन को अधिक दृढ़ बनाने वाली, संस्कृत-वाङ्मय की वारिस, हिन्दू और मुसलमानो को एक समान अपनी माळूम होने वाली और इसी देश मे जन्मी हुई हिन्दी मे हमे अपने हृदय के सभी तरह के उदात्त विचार और गूढ़ भाव प्रकट कर सकने का खूब प्रयत्न करना चाहिये। सब से पहली बात यह है कि हमारे अध्ययन-क्रमों मे हिन्दी का प्रवेश होना चाहिये। प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च शिक्षण मे हिन्दी एक आवश्यक विषय माना जाना चाहिये। इसके बाद हर एक प्रान्तवासी को राष्ट्र की सेवा के लिये अपनी भाषा के उत्कृष्ट ग्रन्थो का भाषान्तर हिन्दी मे करने का प्रयत्न करना चाहिये। जब अपनी भाषा मे बोलना संभव न हो, तब हर एक भारतवासी को अपना काम अँगरेज़ी की अपेक्षा हिन्दी मे चलाने का निश्चय करना चाहिये। आज अखिल-भारतीय प्रश्नो की चर्चा अँगरेज़ी मे होती है, उसके बदले में वह साधारण जन-समाज की समझ मे आने योग्य हिन्दी मे होनी चाहिये। सर्व-प्रान्तीय-सस्थाओ को अपना काम काज हिन्दी मे करना चाहिये। उदाहरणार्थ—काशी का हिन्दू विश्वविद्यालय, गोखले का भारत-सेवक समाज, बङ्गलोर स्थित ताता का शास्त्र-संशोधक विद्या-पीठ, भारत वर्षीय महिला-विद्या-पीठ, सकल धर्म-परिषद् और राष्ट्रीय-सभा आदि आदि

प्रान्तीय शिक्षा के लिये स्थापित संस्थायें प्रान्तीय भाषाओं में ही शिक्षा दें, परन्तु अति उच्च शिक्षण के लिये स्थापित सर्व-भारतीय संस्थाओ में शिक्षण हिन्दी ही में दिया जाना चाहिये। हमारे, मुसलमान और ईसाई भाईयों के हित के लिये, यदि कुरान और बाइबिल के अत्यन्त सरल अनुवाद हिन्दी भाषा में शीघ्रता से हो जायँ तो कैसा अच्छा हो ?

इतना कर लेने के बाद हमे सरकार से भी प्रान्तीय शासन-कार्य मे प्रान्तीय भाषा और देश के सामान्य राज-कार्य मे हिन्दी प्रचलित करने के लिये प्रार्थना करके, उसे वह करने के लिए मजबूर कर सकते हैं। महकमे जङ्गलात विभाग में, वैद्यक-विभाग मे, पुरातत्व-विभाग मे अथवा वातावरण-विज्ञान में हिन्दुस्थान के द्रव्य से जो शोध किये जाते हैं, वे सब हिन्दुस्थान के किसान और व्यापारियो के उपयोग के लिए सरकार को हिन्दी ही में छपाने चाहिये। इस तरह का आग्रह हम कर सकते हैं। पर इसके लिये मुस्तैदी के साथ प्रयत्न होने चाहियें। हाथ जोड़ कर 'यह कैसे होगा'—यह कह कर बैठे रहने से काम न चलेगा। करने से सब कुछ हो सकता है; प्रयत्न करने पर यश मिले बिना नहीं रह सकता।

स्वराज्य संबंधी हमारी योग्यता वाद-विवाद या शाब्दिक प्रमाण से सिद्ध करने की अपेक्षा यही उत्कृष्ट मार्ग है कि राष्ट्र-हित के जिन अत्यन्त आवश्यक कार्यों को सरकार नहीं कर रही है, उन्हे अपने हाथ मे लेकर पूर्ण कर दिखावें। जब सरकार हमारे कार्य को असम्भव करेगी, तब हम देख लेंगे। हिन्दी को राष्ट्र-भाषा का पद देना, उसका प्रचार बढ़ाना, तथा

साहित्य में वृद्धि करना सरकार का भी काम है। यदि सरकार स्वदेशी अर्थात् राष्ट्रीय होती तो वैसा अवश्य करती। आज की सरकार वैसा नहीं करती, इसलिये स्वराज्याभिलाषियों को वह काम अपने हाथ में लेकर अपनी स्वराज्य की पात्रता सिद्ध कर देनी चाहिये। हमारी पात्रता का निर्णय सरकार दे, उसके पहले हमें स्वयं कर लेना चाहिये। हिन्दी के प्रचार द्वारा यह काम करने के लिये यह सोने का अवसर है। हमें यह दिखा देना है कि हम अपने निश्चय को पूरा कर सकते हैं। ऐसा करने से हमें स्वसामर्थ्य की—सङ्कल्प-सामर्थ्य की प्रतीति होगी और इच्छित मङ्गल प्राप्त होगा। तथास्तु।

जीवन-चक्र

तपस्या, भोग और यज्ञ—यह एक महान् जीवन-चक्र है। मनुष्य किसी कामना से प्रेरित होकर सङ्कल्प करता है। उस सङ्कल्प की सिद्धि के लिये मनुष्य जिन जिन कामों को उठाता है, वे सभी तपस्या के नाम से निर्दिष्ट किये जाते हैं। ये काम खुद बखुद अथवा स्वतःप्रिय होते हों, सो नहीं, किन्तु सङ्कल्प-सिद्धि की आशा ही के कारण मनुष्य उनको प्रेम से या उत्साह-पूर्वक उठा लेता है। इस तपस्या के अन्त में फल-प्राप्ति होती है। फल-प्राप्ति के बाद की क्रिया को ही भोग कहते हैं। फलोपभोग हमारी धारणा से भी गूढ़ वस्तु है। यदि फलोपभोग मे तृप्ति ही होती तो उसी मे मनुष्य को आत्म-साक्षात्कार हो जाता। पर फलोपभोग के आनन्द ही में विषण्णता भरी होती है। हम हर एक आनन्द में अज्ञानत. आत्मा को प्राप्त करना चाहते हैं। कामना-पूर्ति से मिले हुए आनन्द के बाद एक क्षणमात्र मोह-जन्य सन्तोष को प्राप्त कर दिल कहता है कि मै जो चाहता था, वह यह नहीं। इतने ही से सावधान होकर यदि मनुष्य कामनाओ से विमुख हो जाय तो उसे आत्मप्राप्ति का मार्ग मिल जाय। परन्तु सत्य का मुख सोने के ढक्कन से ढका होता है। एक सङ्कल्प सम्पूर्ण नहीं होने पाता कि दूसरा सङ्कल्प उसी मे से उत्पन्न हो

जाता है और इस तरह फिर नई प्रवृत्ति मे, नई तपस्या में और नये भोग मे मनुष्य बहने लगता है।

इसमे यज्ञ को स्थान कहाँ है? प्रत्येक भोग कामना से की हुई तपस्या, प्रकृति से लिये हुआ ऋण है। मनुष्य उसे चुका कर ही ऋण मुक्त होता है। मुझे अन्न खाना है, इसी लिये मैं जमीन जोतता हूँ, उसमे बीज बोता हूँ, फसल कटने तक खेत मे परिश्रम करता हूँ और इस तरह ज़मीन का सार निकाल कर उसका भोग करता हूँ। मेरा धर्म यह है कि मैंने भूमि से जितना सार लिया उतना ही उसे फिर लौटा दूँ। इस तरह भूमि को उसकी पहली स्थिति प्राप्त करा देना ही, यज्ञ-कर्म है।

प्रवास मे मैं किसी के यहाँ रात भर रहा, मुझे रसोई बनानी है, मैं घरवाले के पास से बरतन माँग कर लेता हूँ। अब बरतनों मे अन्न सिद्ध कर लेना मेरा तप है; और भोजन करना मेरा भोग। इतना करने के बाद घरवाले के पात्र माँग कर जैसे थे, वैसे ही करके दे देना मेरा यज्ञ-कर्म है।

मुझे तालाब या कुँए पर स्नान करना है, पानी खींचना मेरा तप है, स्नान मेरा भोग है। अब यज्ञ कौनसा? बहुतेरे मनुष्य—बहुधा सभी—विचार तक नहीं करते कि इसमे कोई क्रिया बाकी रह गई है। शास्त्रों में लिखा है, 'यदि तुम तालाब मे स्नान करो तो जितना तुमसे हो सके उसका कीचड़ निकाल कर बाहर फेंक दो।' यही हमारा यज्ञ-कर्म है। यदि कुएँ मे नहाते हो तो उस कुएँ के आसपास की दुर्गन्ध को दूर करना हमारा आवश्यक यज्ञ-कर्म है।

गीता कहती है, जो इस तरह का यज्ञ नहीं करता, वह चोर

है। वह शरीर को तकलीफ देना नहीं चाहता, [अघायुरिन्द्रियाराम:] समाज की सेवा तो ले लेता है, पर उससे उधार ली हुई चीज लौटाना नहीं जानता। जो मनुष्य भोग तो करता है, पर यज्ञ नहीं करता, उसका यह जन्म भ्रष्ट होता है; उसका परलोक कहाँ से अच्छा हो सकता है ?

इस यज्ञ-कर्म का लोप हो जाने से ही हिन्दुस्थान कङ्गाल और पामर बन गया है। हम स्त्रियो से सेवा लेते हैं, परन्तु उनका बदला उन्हे नहीं देते। किसानो के परिश्रम का भोग करते हैं, पर जिससे किसानो की भलाई हो ऐसा यज्ञ-कर्म नहीं करते। हम अन्त्यजों को समाज-सेवा का पाठ पढाते हैं, सेवा भी बलपूर्वक उनसे लेते हैं, पर उनके उद्धाररूपी यज्ञ-कर्म तक को न करके उतने हाड्यो के हराम हम बन गये हैं। हम सार्वजनिक लाभ प्राप्त करने को सदा दौड़ते हैं, किन्तु कर्तव्यो का पालन शायद ही कभी करते हैं। इससे सारा समाज दीवालिया बन गया है।

मोक्ष-शास्त्र कहता है—न्याय के लिये भी तुम्हे भी यज्ञ करना चाहिये। भोग ले लिये की हुई तपस्या आधा कर्म हुआ। यज्ञ-कर्म उसकी पूर्ति है। आप तप तो करते हैं पर यज्ञ नहीं करते, इसी से आप की वासनाये अनियन्त्रितरूप से बहती हैं। यदि आप यज्ञ करने लगे तो भोग की इच्छा जरूर मर्यादित रहेगी; आपका जीवन पापशून्य हो जायगा।

हर एक बालक के जंन्म के बाद शिशु-सम्वर्धन के लिए स्त्री-पुरुष यदि सात वर्ष ब्रह्मचर्य में बिताने का निश्चय कर लें तो उन्हे दीन बन कर समाज की दया पर आधार रखने का प्रसङ्ग नहीं आ सकता।

यज्ञ करने के वाद्—ऋण चुकाने के वाद्—मनुष्य जो तप करता है, जो भोग भोगता है, उसका वह मुस्तहक होता है, उनसे उसे किल्विष (पाप) नहीं प्राप्त होता। उसकी प्रवृत्ति निष्पाप और उन्नतिकारिणी होती है। पर यदि मोक्ष प्राप्त करना हो तो प्रवृत्ति को छोड़ देना चाहिए—अर्थात् कामना, तत्प्रीत्यर्थ तप और उस तप के द्वारा उत्पन्न फल का उपभोग—इन तीनो को त्याग देना चाहिए। परन्तु यज्ञ को तो किसी तरह छोड़ ही नही सकते। निष्काम यज्ञ—ज्ञान पूवक यज्ञ—कार्यमेव—करना ही चाहिए। उससे पुराना ऋण चुक जाता है। अपने सम्वन्धियो का ऋण टल जाता है, समाज का सर्व सामान्य भार कम हो जाता है, पृथ्वी का भार हलका हो जाता है, श्रीविष्णु सन्तुष्ट होते है और वह मनुष्य मुक्त हो जाता है।

हम जो जी रहे हैं, इसी में सैकड़ो व्यक्तियों का ऋण हम लेते हैं। प्राकृतिक शक्तियो का तो ऋण हई है, समाज का ऋण भी हई है, समाज को हर प्रकार से संस्कारी वनाने वाले पूर्व ऋषियो का भी ऋण हई है और कुल-परम्परा की विरासत हमारे लिए छोड़ जाने वाले माता-पिताओ का भी ऋण हई है। ये सव ऋण पञ्च महायज्ञो द्वारा चुका देने के वाद ही मनुष्य भुक्ति या मुक्ति का विचार कर सकता है।

इस यज्ञ-कर्म मे पर्याय से काम नही चलता। ऋण जिस तरह का हो यज्ञ भी उसी तरह का होना चाहिए। विद्या पढ़ कर गुरु से लिया ऋण गुरु को दक्षिणा भर दे देने ही से नहीं चुकता, वल्कि गुरु के दिए ज्ञान की रक्षा कर और वढ़ा कर नई पीढ़ी को दे देना ही सच्चा यज्ञकर्म है। सृष्टि मे नवीन कुछ भी नहीं

होता। जा कुछ है उतने ही में काम चला लेना चाहिए। इस-लिए हम अपनी चेष्टाओं से साम्यावस्था का जितना ही भङ्ग करते हैं, उतना ही उसे फिर समान कर देना परम आवश्यक यज्ञ-कर्म है। आकाश जितनी भाफ लेता है, उतना ही पानी फिर दे देता है। समुद्र जितना पानी लेता है उतनी ही भाफ फिर दे देता है। इसी से सृष्टि का महान् चक्र बे रोक-टोक चलता है। यज्ञ-चक्र को ठीक ठीक चलाते रहना शुद्ध कर्म है। निष्काम होकर त्याग-भाव से कम से कम जहाँ तक अपना सम्बन्ध है, इस चक्र का वेग घटाना ही निवृत्ति-धर्म है। कुछ भी काम न करना निवृत्ति नहीं, यह तो बिल्कुल चोरी ही है।

वीर-धर्म

हिन्दुस्थान के सभी प्रश्नों मे दरिद्रता का प्रश्न सब से बड़ा है। जिस राष्ट्र की जनता को दो बार पेट भर खाने को भी न मिलता हो, उसका चित्त किसी दूसरे प्रश्न की ओर कैसे जा सकता है? इस फ़ाकेकशी को दूर करने पर ही जनता को कुछ सूझ पड़ेगा और अपने जीवन मे सुधार करने योग्य उत्साह उसमे आवेगा। सुबह से शाम तक, एक चातुर्मास से दूसरे चातुर्मास तक, और जन्म से मरण तक, यही एक प्रश्न ग़रीब भारत के सम्मुख हमेशा खड़ा रहता है कि इस फ़ाकेकशी को कैसे दूर किया जाय?

देहात मे कई स्थानों पर, मनुष्य कितना ही बीमार हो जाय, तो भी वह एक दिन भी दवा नहीं ले सकता और न विश्रान्ति ही ले सकता है। क्योंकि, यदि वह विश्रान्ति लेने जाय तो खाए ही क्या? यदि डाक्टर को तीन आने देते हो तो एक दिन की अपनी ख़ुराक काट करके ही वह दे सकता है। ग़रीबी के कारण मनुष्य का तेजोवध भी होता है। वह अन्याय होते हुए अपनी आँखो देखता है, किन्तु उसका प्रतिकार नहीं कर सकता। वह देखता है कि मैं ठगा जा रहा हूँ, किन्तु फिर भी वह उस ठगाई से बच नही सकता; ग़रीबी के कारण उसे स्वाभाविक

दया, माया और ममता भी छोड देनी पड़ती है। पुत्र-स्नेहवत् पाले हुए बैल और भैंसों से उनके बूते के बाहर उसे काम लेना पड़ता है। निर्दय बन कर उन्हे मारना-पीटना भी पड़ता है।

और सब से बड़ा आश्चर्य तो यह है कि गरीब देहातो ग़रीब होता है, इसीलिए उसे अक्सर ज्यादह खर्च करना पड़ता है। इसीलिए उससे अधिक सूद लिया जाता है कि वह गरीब होता है, अतः उसे रिश्वत देने पर ही नई नई सुविधाओ का लाभ मिल सकता है। थोड़े मे यो कहना चाहिए कि वह ग़रीब होता है, इसीलिए उसे और भी अधिक ग़रीब बनना पडता है।

इसका उपाय क्या है ? कानून के द्वारा इसकी रक्षा नहीं हो सकती। शाहजादे से लेकर अव्वल कारिन्दे तक के अधिकारियो के जो बड़े बड़े दौरे होते हैं, उनसे भी गरीबों की हालत नहीं सुधर सकती। उलटे ऐसे प्रसङ्गों पर तो गरीब बेगार करते करते अधमरे हो जाते हैं। अदालते तो गरीबो को चूसने ही का काम करती हैं। पुलिस कर्मचारी ग़रीबो को यमराज के समान मालूम देते हैं। वकील, सूद पर रुपए-पैसे देने वाले साहूकार, सवाल-नवीस, अर्जी-नवीस, पटेल, पटवारी, वार्षिक उगाही करने वाले, गुरु, पुरोहित, और ज्योतिषी, साधु, संन्यासी, फक़ीर सभी गरीब किसानो ही के सिर पर अपना निर्वाह करते हैं। गरीब किसान सारी दुनिया को खिलाता है, परन्तु इस बेचारे को खिलाने वाला कोई नहीं मिलता। इसकी किस्मत मे तो वही फ़ाकेकशी है !

तो अब इसका उपाय क्या है ? हम तो इसका एक ही उपाय बतला सकते है। और वह है स्वावलम्बन। किन्तु जिस मनुष्य पर सारा समाज अवलम्बित है, उसके सम्मुख स्वावलम्बन

की बात करते हुए हमे लज्जा आनी चाहिये। उस बेचारे को अपने बाल-बच्चे होते हैं, माँ-बाप और भाई-बहिन आदि होते हैं और वह यह सब कुछ इसीलिए सह लेता है कि उनकी दुर्दशा न होने पावे, नही तो वह कभी का या तो बागी बन गया होता, या भभूत रमाकर बैरागी ही हो गया होता। इसके दुःखो को कौन दूर कर सकता है? हम जो कुछ भी हलचल या आन्दोलन करते हैं, वह सब शहरों मे ही होता है। व्याख्यान शहरो ही मे होते हैं; शिक्षा के लिये खर्च शहरो ही मे होता है, समाचार-पत्र भी शहरो ही मे पढ़े जाते है, दवा-दरपन की सुविधाये भी तो शहरो ही मे होती हैं, सुख और सुविधा के सभी साधन शहरों ही मे मिल सकते हैं। तब इन देहाती गरीबो का आधार कौन है?

विचार करने से ज्ञात होगा कि गरीबी की औषधि गरीबी ही है। जिस देश मे करोड़ो मनुष्य फ़ाकेकशी कर रहे हैं, उसमे उनकी वह फ़ाकेकशी मिटाने के लिये हजारो और लाखों युवको को स्वेच्छापूवक धार्मिकता से गरीबी धारण करनी चाहिये। अँगरेज़ी शिक्षा प्राप्त कर इस विषय मे हम बहुत ही कायर बन गये हैं। आज तो मनुष्य मृत्यु से, बेइज्जती से, धर्म-द्रोह और देश-द्रोह से इतना नही डरता जितना वह गरीबी से डरता है। जिस देश मे स्वेच्छापूर्वक धारण की हुई गरीबी की प्रतिष्ठा सर्वोपरि थी, आज उसी देश मे हरएक शिक्षित युवक कायर की तरह गरीबी से भागता फिरता है। रूस मे अकाल फैला हुआ था। लोगो का दुःख असह्य था। उसे देखकर साधु टॉल्स्टॉय घर-बार छोड़कर भिखमंगा बन गया। बाह्य दृष्टि से देखने मे क्या लाभ हुआ? गरीबो की संख्या की और भी एक आदमी

बढ़ा दिया। बस यही न? अर्थ-शास्त्री इसका उत्तर नहीं दे सकते, क्योंकि उनके शास्त्र में आत्मा के लिए स्थान ही नहीं। टॉल्स्टॉय ने ससार की आत्मा को जागृत किया, ससार के ऐशो-आराम मे डूबे हुए हज़ारों मनुष्यो को फ़ाकेकशी का और उसके मूलभूत कारण अन्याय का प्रत्यक्ष दर्शन करा दिया।

नवयुवक कहते हैं, आपकी बात सच है, किन्तु हमारे बाल-बच्चो का क्या होगा? जिस स्थिति मे रहने की आदत उनको पड़ गई है, उसमें तो उन्हे रखना ही होगा न? क्या यह योग्य है कि हमारे विचारो के कारण वे कष्ट सहे? मै कहूँगा "जरूर" इसमे कुछ भी अनुचित न होगा। यदि आपकी दृष्टि से केवल आपकी स्त्री और बाल-बच्चे ही सत्य हों और भूखो मरने वाले ये करोड़ों भाई केवल भ्रम-माया हो, तब तो जुदी बात है। पर आप यह क्यों नही ख़याल करते कि क्या यह उचित है कि हमारी सफेद आदतो के कारण हजारो गरीबो को भूखो मरना पड़े? इस डर से हममे कितनी कायरता आ गई है कि गरीबी में दिन काटने पड़ेगे। प्रति पद पर हमारा जो तेजोवध हो रहा है उसका कारण यह ग़रीबी का डर ही है। हम अन्याय को सहते हैं। अपमान का कड़वा घूँट पी जाते हैं, आखें मूँद कर अन्याय करने में दूसरे के साथ सहयोग करते हैं और रात-दिन आत्मा का अपमान करते हैं, इसका कारण सिवाय इस गरीबी के भय के और कुछ हई नहीं।

युद्ध मे जो हजारों और लाखो सैनिक देश के लिये लड़ने जाते है, वे सभी कहीं महात्मा नही होते। उनके भी बालबच्चे होते हैं। दस या पन्द्रह रुपये पानेवाला मनुष्य बाल-बच्चों के

लिये क्या बचत कर सकता है? स्त्रियो और लड़के-लड़कियों को आश्रित दशा मे रहने की हमने आदतें डाल रक्खी हैं। इसी से हमे अज्ञात भविष्य मे गोता लगाने मे भय होता है। प्रति दिन परिश्रम करके रोटियाँ पैदा करना और भविष्य की ज़रा भी चिन्ता न करना, इसमे जो वीर-रस है, उसकी मधुरता अनुभव के बिना समझ मे नही आती। कुशलता, सुशिक्षितता तो जीवन की विध्वंसक है। भविष्य की सन्दिग्धता—नित्य-नूतन युद्ध यही तो जीवन का सार है। इसका स्वाद जिन्हे नहीं मिला उन्हे तो अभागे ही समझिए। जिसका भविष्य सुरक्षित है उसमें धार्मिकता का होना बहुत ही कठिन है। जो सुरक्षितता को चाहता है, वह वास्तव मे नास्तिक ही है। जैसे, बालक माता-पिता पर विश्वास रखकर निश्चिन्त रहता है उसी तरह वीर पुरुष को माङ्गल्य पर विश्वास रखना चाहिये। जहाँ सुरक्षितता है वहाँ न पुरुपार्थ, न धार्मिकता, न कला और न काव्य ही होता है।

जो मनुष्य स्वेच्छापूर्वक गरीबी धारण करता है, वह वीर बन जाता है। अन्यायी मनुष्य को वह काल के समान भासित होता है। पण्डितों को कृपानिधि जान पड़ता है, वह बड़ी से बडी सल्तनत का सामना कर सकता है, और धर्म का रहस्य भी उसको प्रकट होता है। ग़रीबी वीर मनुष्य की खुराक है, ईश्वर का प्रसाद है और धर्म का आधार है। जब इस तरह के गरीब देश मे बढ़ेंगे, तभी देश की ग़रीबी दूर होगी, फाकेकशी मिटेगी, लोगो मे हिम्मत आयेगी और आज जो बात असंभव मालूम होती है, वही आगे संभव और सुलभ हो जायगी।

गुजरात मे देश के लिए असीम प्रेम है, दया-धर्म है, विद्वत्ता

भी है। चतुर और उत्साही पुरुषो की तो गुजरात खान ही है; गुजरात मे ज्ञान है; एक विशिष्ट संस्कृति है; सार्वजनिक कार्य करने का अभ्यास है। केवल जरूरत है—युवकों को ग़रीबी धारण करने की, लगन लगने की। आज हिन्दुस्थान में गुजरात की जो ख्याति है, वह गुजरात के व्यापार के कारण से नहीं, उसके सगृहीत रुपयों के कारण भी नहीं। गुजरात की ख्याति हुई है उसके पुत्रो के इस वीर-धर्म को—गरीबी को स्वेच्छापूर्वक धारण करने के कारण। देश के करोड़ो मनुष्य ऐसे ही मनुष्यो से उद्धार की आशा रख सकते हैं, क्योकि ऐसे लोग ग़रीबी धारण करके पहले स्वयं अपना उद्धार कर लेते हैं।

ग़रीबों की दुनिया

मानव-जाति के इतिहास के मानी क्या हैं ? भिन्न भिन्न मानव-जातियो के सम्मुख भिन्न भिन्न प्रसङ्गो पर खड़े हुए अनेको प्रश्नो की उलझनें और उनके सुलझाने के लिए किए हुए मानव-प्रयासो का वर्णन। इस दृष्टि से आज यूरोप के इतिहास का अवलोकन हमारे लिये बहुत ही बोध-प्रद है। क्योकि यूरोप ने अन्तिम शताब्दी मे अपने पुरुषार्थ से सारे संसार पर भला या बुरा प्रभाव डाला है।

अन्धकार के युग मे से उबर जाने के बाद के यूरोप के इतिहास में हम प्राय. भिन्न भिन्न राजवंशो के अभिमान, महत्त्वाकांक्षा और चतुराई ही देखते हैं, मानो इतिहास मे सामान्य प्रजा का अस्तित्व ही नहीं था।

जैसे महाभारत में अठारह अक्षौहिणी सेना के युद्ध में गिने जाने और कट जाने के सिवा और कोई अर्थ ही नही, अथवा जिस तरह चित्र के पीछे उसे धारण करने के लिए पट होता है, ठीक वैसी ही दशा यूरोप मे सर्वसाधारण जनता की थी, यो कहा जाय तो अयथार्थ न होगा। रूस, प्रशिया और आस्ट्रिया इन तीनो राज्यो ने यूरोप की एक महान् जाति के प्रति घोर अन्याय करके प्रजाओ को ऐतिहासिक महत्त्व दिया। जिस दिन पोलेण्ड के टुकड़े टुकड़े किए गए, उसी दिन यूरोप मे राष्ट्रीयता

का जन्म हुआ। इटालियन देश-भक्त जोसेफ मॅजिनी ने अपने तत्त्व-ज्ञान से और कठोर तपश्चर्या से राष्ट्रों को नाम, रूप और महत्त्व समर्पित किया और उसी दिन से यूरोप के युद्ध और सुलहनामे अर्थात् सन्धि-विग्रहादि राष्ट्रों के नाम से होते हैं।

वर्तमान समय औद्यागिक प्रगति का युग होने से राजसत्ता किसी न किसी तरह व्यापारियों के हाथों में चली जाती है। ये व्यापारी अपने स्वार्थ के लिए भोली-भाली जनताओ में राष्ट्रीय अभिमान, द्वेष और ईर्षा सुलगाकर उन्हें लड़ाते हैं और भयंकर संहार कराकर उसका आर्थिक लाभ तो स्वयं चाट जाते हैं, किन्तु उसका भार तथा आपत्तियाँ मात्र उन ग़रीब प्रजाओं को ही उठानी पड़ती हैं।

जब तक यूरोप के शासनसूत्र राजवशो के हाथों में थे, तब तक बाहरी दुनिया के साथ उसका अधिक सम्बन्ध नहीं हुआ था, परन्तु जिस दिन से औद्योगिक युग का आरम्भ हुआ, उसी दिन से यूरोप के झगड़े सारी दुनिया को बाधक होने लगे।

जिस प्रकार अन्यान्य सभी खण्डो की प्रजा, यूरोप के इन झगड़ों के कारण थक गई है, उसी प्रकार वहाँ का मजूर-दल भी इनके कारण उतना ही व्याकुल हो उठा है। वह कहता है कि "यह मान लेना भ्रमात्मक है कि आज यूरोप में पन्द्रह या अठारह राष्ट्र हैं। यूरोप में तो केवल दो ही राष्ट्र हैं। एक धनिकों का और दूसरा निर्धनो का। धनवान-राष्ट्र समर्थ और सुसंगठित है। पर निर्धन-राष्ट्र असहाय और छिन्न-भिन्न है। इसीलिए तो धनिक निर्धनों को अपना दास बना कर उनका खून चूस सकते हैं। यदि निर्धनों का वर्ग सुसगठित हो जाय, ऐश्वर्यपूर्वक रह

कर किसी योजना को तैयार कर, उसको पूरी कर सके, तो उसके पास मनुष्य-बल तो इतना है और राष्ट्रीय जीवन की एक एक नस इस तरह संपूर्णता के साथ उसके हाथों मे है कि वह जिस क्षण चाहे, उसी क्षण अपनी मनमानी कर सकता है।" इसी ख्याल से वहाँ मजदूरशाही अथवा बोलशेवीज्म का जन्म हुआ। यूरोप मे अब सधन और निर्धनो के बीच महान विग्रह शुरू हो गया है। यह कहना कठिन है कि कब और किस तरह इस विग्रह का अन्त होगा।

शंकराचार्य ने जिस समय 'अर्थमनर्थं भावय नित्यं' कहा था उस समय शायद उनके दिल मे अपने वचन का इतना व्यापक अर्थ नही आया होगा। जब तक लोग इस तरह धन के लिए एकसा लड़ते रहेंगे, तब तक इस मानवता को सुख और शान्ति कैसे नसीब हो सकती है ? 'अद्वैत' की तरह इस विग्रह मे भी 'द्वितीया द्वै भवं भवति।' जब तक ये दो रहेंगे, युद्ध बराबर जारी रहेगा। सवनाश किये बिना यह विग्रह शान्त नहीं होगा।

पर श्रद्धा कहती है, 'नही, सर्वनाश के लिए इस मानवता की सृष्टि नही हुई है।' भगवान् ईसा ने कहा है कि यह दुनिया ग़रीबो के लिए है। पर ग़रीबो के मानो उपर्युक्त रीति के निर्धनों से नही है। क्योकि, वे तो दोनो सधन और निर्धन भी, धन की वासना से पूर्णतया व्याप्त है। अत. वे दोनो ही धनवान ही हुए। जहाँ एक धन के मद से मत्त है, तहाँ दूसरा धन-लोभ से अन्धा हो रहा है। दोनो ही मे धन को विकृति है। अतः जिसमे धन की विकृति है, वह ग़रीब नही, धनवान ही कहा जायगा। यह दुनिया धनवानो की नही, ग़रीबो की है।

इस दृष्टि से देखा जाय तो समस्त यूरोप धनवान है। पूँजी-पति भी धनवान और वोलशेविक भी धनवान। क्योंकि दोनों धन-परायण हैं, धन को चाहने वाले हैं, उसके लिए पागल हो रहे है।

ये दोनो प्रकार के धनवान भले ही संसार में मनमाने लड़ें, कानून के पंडित भले ही चाहे कितने ही प्रकार से सपत्ति के विभाग करके देख लें, पर इस तरह संसार में कदापि शांति का साम्राज्य नहीं होगा।

यूरोप मे अल्पसंख्यक लोगो के हाथ मे धन है। निस्सन्देह यह स्थिति विषम है। परन्तु यदि निर्धन लोग भूखे भेड़िये की तरह हमेशा उस संपत्ति को लूटने की ताक मे रहेंगे, तव तो वह विषमता और भी भयंकर हो जायगी। पर यह वात निर्धनों के ख्याल मे नहीं आती। उनमें इतनी श्रद्धा का उदय होना जरूरी है कि धनिकों को विना लूटे ही अपनी विषमता दूर हो सकती है।

इसके लिए निर्धनो को कुछ करना चाहिए। अपनी आवश्यकताओ को वे घटावें और अत्यंत स्वाभाविक जरूरतो को स्वावलम्बन द्वारा पूरी करना सीख लें। फिर वे देखेंगे कि न तो धनवानोंके पास अधिक धन जा रहा है और न वहाँ एकत्र ही हो रहा है। वड़े पैमाने पर वस्तुओ को पैदा करना और उन्हे देश-देशान्तरो मे भेजना अथवा संक्षेप में विराट् रूप से श्रम-विभाग करना ही इस विपमता का मूल कारण है। इस विषमता को दूर करने ही के लिए स्वदेशी धर्म का अवतार हुआ है। स्वदेशी के पालन से कोई भी मनुष्य धनिक न हो

सकेगा और न उससे किसी मनुष्य के निर्धन होने का ही डर है। यदि हमे एक जगह ऊँचा टीला करना है तो दूसरी जगह अवश्य ही गड़हा खोदना होगा। जहाँ सधनता का अभाव है, वहीं निर्धनता का भी अभाव हो सकता है। संपत्ति और दारिद्र्य दोनो सनातन पड़ोसी है। दोनो का नाश एक साथ ही हो सकता है। वोल्शेविज्म द्वारा नहीं, स्वदेशी धर्म द्वारा।

यदि परमात्मा चाहेंगे तो अब से आगे के ज़माने के लोगो मे दो वर्ग होंगे—एक धन-परायण और दूसरा संतोष-परायण। एक होगा साम्राज्यवादी और दूसरा होगा स्वराज्य-वादी। एक होगा सत्तावादी और दूसरा होगा सत्यवादी। एक आतंक जमाना चाहेगा, दूसरा दया का शीतल स्रोत बहावेगा। एक ऐश्वर्य-परायण होगा और दूसरा होगा स्वधर्म-परायण। एक अहंकारवादी और दूसरा स्वदेशी।

संयम में संस्कृति

संयम सस्कृति का मूल है। विलासिता, निर्बलता और अनुकरण के वातावरण मे न सस्कृति का उद्भव होता और न विकास ही। पचीस वर्ष तक दृढ़ ब्रह्मचर्य रखने वाले की सन्तान जैसी सुदृढ होती है, उसी तरह सयम के आधार पर निर्माण की हुई संस्कृति प्रभावशाली और दीर्घ-जीवी होती है।

ऋषियो ने तपस्या और ब्रह्मचर्य के द्वारा मृत्यु के ऊपर विजय प्राप्त कर के एक अमर-संस्कृति को उत्पन्न किया। बुद्ध-कालीन भिक्षुओ की योगियों की तपश्चर्या के परिणाम-स्वरूप ही अशोक के साम्राज्य का और आर्य-संस्कृति का विस्तार हो पाया। शङ्कराचार्य की तपश्चर्या से हिन्दू धर्म का संस्करण हुआ। महावीर स्वामी की तपस्या से अहिंसा-धर्म का प्रचार हुआ। सादा और संयमी जीवन व्यतीत करके ही सिक्ख गुरुओं ने पञ्जाब मे जागृति की। त्याग के झडे के नीचे ही सीधे-सादे मराठो ने स्वराज्य की स्थापना की। बङ्गाल के चैतन्य महाप्रभु मुख-शुद्धि के लिये एक हर्रे भी न रखते थे, उन्ही से बङ्गाल की वैष्णव-संस्कृति विकसित हुई। संयम ही मे नई सस्कृति उत्पन्न करने का सामर्थ्य है। साहित्य, स्थापत्य, सङ्गीत, कला और

पञ्च महापातक

शास्त्रों में अनेक तरह के पापों का वर्णन है। झूठ बोलना, हिंसा करना, चोरी करना इत्यादि अनेक पाप हैं। किन्तु पापों का एक और भी प्रकार है, जिसका नामोच्चारण और निषेध होना जरूरी है। ये पाप इन सामान्य पापों से कम भयङ्कर नहीं हैं। भयभीत दशा में रहना, अन्याय सहना, पड़ोसी पर होते हुए अन्याय को चुपचाप देखते रहना, आलस्यमय जीवन व्यतीत करना और अज्ञान को दूर करने का प्रयत्न न करना—ये भी पाँच महापाप हैं। इनमें अपनी आत्मा ही के प्रति द्रोह है। संसार में जहाँ जहाँ अन्याय होता है, वहाँ वहाँ अत्याचार करनेवाला तो जरूर ही पापी होता ही है, पर अत्याचार को सह लेने वाला भी कम पाप नहीं करता। जो मनुष्य स्वयं दुबला या डरपोक बन कर दूसरों को अत्याचार करने के लिये ललचाता है, वह भी समाज का कम द्रोह नहीं करता। यात्री-समूह में जो मनुष्य सब से धीरे चलता हो, सभी समुदाय को उसी की चाल से चलना पड़ता है। निर्बल लोग संघ की गति को रोकते हैं। ठीक इसी तरह जो लोग मनुष्य की जीवन-यात्रा में पोले और डरपोक होते हैं, वे भी मनुष्य की प्रगति को रोकते हैं। जैसे हम निर्बलों का साथ पसन्द नहीं

करते, वैसे ही उन्नति-मार्ग मे चलने वाली जातियाँ निर्बल और अन्याय-सहिष्णु लोगों को पसन्द नही करती।

❀ ❀ ❀ ❀

परन्तु मानवी-समुदाय मे पसन्दगी करना किसी के हाथ मे नही। इस संघ को तो ईश्वर ही ने तैयार किया है और वही स्वयं इसका नेता भी है। इसलिये जितने ही हम इस सघ से पीछे रहेगे, उतने ही हम उस संघ-नायक के द्रोही होगे।

* * ❀ *

अज्ञानी रहना भी एक महापाप है। वह भी संघ-द्रोह या समाज-द्रोह ही होगा, यदि हम उतना ज्ञान भी प्राप्त न कर ले जितना कि हम ग्रहण कर सकते हैं, अथवा जितना जीवन-यात्रा के लिये निहायत जरूरी है। विशेष कर जिनके सिर पर अनेक मनुष्यो को राह बतला कर उन्हे ले चलने का उत्तरदायित्व पड़ा हुआ है, जो समाज के अग्रगण्य नेता समझे जाते हैं, यदि वे ससार की स्थिति से, समाज के वर्तमान आदर्श से और संसार के सम्मुख समुपस्थित बड़े बड़े प्रश्नो से अभिज्ञ न रहे, तो उन्हे वही पाप लगेगा जो समाजघात का होता है। हिन्दू-समाज में राजा और साधु-वर्ग दोनो समाज का अगुआपन करते आये हैं। एक श्रीमान् होता है, तहाँ दूसरा अकिञ्चन। एक बड़े परिवार वाला है, तहाँ दूसरे के परिवार ही नही होता। एक सत्ता के बल पर कार्य करता है, तहाँ दूसरा सत्य के बल पर। एक मे होती है प्रभुता, दूसरे मे होता है वैराग्य। ऐसे परस्पर भिन्न जीवन वाले और भिन्न आदर्श वाले वर्ग के हाथ मे समाज का अगु-

आपन सौंप कर प्राचीन काल मे समाज-व्यवस्थापकों ने समाज की उन्नति का मार्ग सुरक्षित कर दिया था। किन्तु दुर्भाग्य-वश इन दोनो वर्गों को उनकी सम्पूर्णता के भ्रम ने पछाड़ा। दोनों वर्गों ने अज्ञानी रहने का पाप किया और समाज-द्रोह उनके सिर पर आ पड़ा। साधुगण षट्दर्शन-प्रवीण भले ही हो, भले ही दश ग्रन्थ उन्हे मुखाग्र हो, किन्तु जब तक वे जगत् की परिस्थिति को न समझेंगे, समाज की नब्ज़ की परिक्षा न कर सके, समाज को उसकी अपनी भाषा मे यह न समझा सकें कि उसकी उन्नति का मार्ग किधर से होकर आता है, तब तक वे अज्ञानी ही है। स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ जैसे साधुओं की इतनी प्रतिष्ठा क्यों हुई ? इसीलिये कि वे अपने सामाजिक कर्तव्यों को पहचानते थे।

राजाओं का भी ऐसा ही है। पुरुषार्थ के बाद लक्ष्मी आती है, इस बात को भूल कर लक्ष्मी इकट्ठी करने की धुन मे वे पुरुषार्थ को खो बैठे हैं। समाज का नेतृत्व करने के बदले, उसे दबाने ही मे उन्होंने अपनी शक्ति का व्यय किया है।

खून और पसीना

हम शरीर का मैल पानी से धो सकते हैं, कपड़ों का मैल साबुन से मिटा सकते हैं, बर्तनो के दाग इमली या किसी अन्य खटाई से मिटा सकते है, परन्तु सामाजिक दोष और राष्ट्रीय पाप किस पदार्थ से धाये जा सकते हैं? उसके लिये शाब्दिक प्रायश्चित ही काफी नही है। नदियो या समुद्र में जाकर स्नान कर लेने से काम नही चल सकता। वह तो ठेठ अन्तःकरण के प्रायश्चित्त से, आन्तरिक परिवर्तन से ही साफ हो सकता है। राष्ट्रीय और सामाजिक पाप के धोने के लिये साधारण पानी काम नही दे सकता, वह तो हमारे खून और हमारे पसीने से ही धोया जा सकता है।

इसी से ईश्वर की योजना के अनुसार प्रत्येक धर्म की स्थापना के पूर्व मनुष्यो का गरम खून बहा है। खून की दीक्षा ही से हृदय पलटता है और पाप धुल जाते है। खून ही से इस्लामी धर्म स्थापित हुआ, खून ही से यूरोप जैसी कड़ी जमीन मे जड़ ईसाई-धर्म की मजबूत हुई, खून ही से सिक्ख-धर्म फूला-फला और ईश्वरेच्छा यही मालूम होती है कि सत्याग्रह भी खून ही के द्वारा विश्वमान्य होगा।

खून और पसीने मे कोई भेद नहीं। जैसे दूध और घी दोनो खून और माँस के निचोड़ हैं, वैसे ही पसीना भी मनुष्य के खून

ही का द्रव है। किसी पर जवरदस्ती करके उससे सेवा लेना, उसका पसीना वहाना, उसका वध करने के समान ही है। फ़र्क़ यही है कि यह वह सुथरा हुआ, सूक्ष्म और धीरे धीरे असर करनेवाला है। गुरु-का-वाग मे डंडो की मार से खून वहाने और हिन्दुस्थान की दीन प्रजा को अपने सैनिक खर्च को चलाने के लिये निचोड़ डालने मे कोई तात्त्विक भेद नहीं है। उसी प्रकार आफ्रिका के जंङ्गली मनुष्यों का दूसरे मनुष्यों को मारकर खाने और सेठों के गुलामों की मजदूरी से पैसे खाने में भी कोई तात्त्विक भेद नहीं। किसी देशकी प्रजा को गुलाम वना, उससे जवरदस्ती से मज़दूरी लेकर उन्हें शर्तवंद कुलियों की हालत को पहुँचा देना भी उतना ही वड़ा मनुष्य वध है, जितना वड़ा कि किसी देश पर चढ़ाई करके उसके लाखों निवासियो को जान से मार डालने मे है।

दूसरे के खून को वहाने के समान महापाप नहीं। इसी तरह इच्छा-पूर्वक और ज्ञानपूर्वक अपने खून का वलिदान करने के वरावर प्रायश्चित्त भी नहीं। जिस प्रकार दूसरे का खून लेने के वदले उसका पसीना लेने का एक नया तरीका संसार मे निकला है, उसी प्रकार अपने खून का वलिदान करने के वजाय अपना पसीना दे देना अधिक सशास्त्र प्रायश्चित्त है। पापी मनुष्य जव चाहे तभी दूसरे का खून कर सकता है; परन्तु दूसरे का पसीना तो उसके सहयोग ही से उसे मिल सकता है। इसके विपरीत, जहाँ प्रायश्चित्त में हम खून देने को तैयार होते हैं वहाँ हम अपना खून तभी दे सकते हैं जव जालिम हमें सहायता करे। पञ्जाव-सरकार की सहायता न होती तो शूर-वीर अकालियों को धर्म के लिये अपना खून अर्पण करने का अवसर कैसे मिलता? परन्तु हम अपना पसीना तो जव

चाहे, तभी स्वेच्छा से बलिदान मे दे सकते हैं। इसमे अत्याचारी की सहायता की आवश्यकता नहीं। राष्ट्रीय प्रायश्चित्त, आत्मशुद्धि के लिए ,देवी स्वतन्त्रता के प्रीत्यर्थ बलिदान मे अपना पसीना, अपना परिश्रम, अविश्रान्त परिश्रम अर्पण करने के लिए अपने प्रति निर्दय बनकर काम करने ही का नाम रचनात्मक कार्यक्रम है। रचनात्मक काय की वीरता बाहर से नहीं दीखती, किन्तु इससे उसका महत्व भी कम नहीं हो जाता। जिसे स्वराज्य की आवश्यकता हो, उसे सदा अपना खून देने की तैयारी रखनी चाहिये और जब तक वैसा मौक़ा नहीं मिलता, रचनात्मक कार्य मे अपना पसीना बहाते रहना चाहिये, और साथ ही यह निश्चय कर लेना चाहिये कि मैं न तो किसी का खून बहाने का पाप करूँगा और न किसी से उसका पसीना बहाकर, उससे अनुचित लाभ ही उठाऊँगा।

रूपान्तर और देहान्तर

कोई सहृदय मनुष्य भिन्न २ वस्तुओं के बीच मे कोई ऐसा साम्य देखता है, जो आश्चर्य या आनन्द उत्पन्न करता है। तब वह इस श्रद्धा से कि अन्य मनुष्यो मे भी वही सहृदता भरी है, उस साम्य को उपमा के रूप मे प्रकट करता है। दूसरा मनुष्य यही उपमा तीसरे मनुष्य को बतलाता है। और इस तरह लगभग सारा समाज भाषा के इस अलङ्कार से विज्ञ हो जाता है। समय पाकर इस उपमा की नवीनता और चमत्कार कम हो जाते हैं और वह नीरस बन जाती है। फिर जिस प्रकार हम दूध को उबालकर उसका मीठापन बढ़ाते हैं, उसी प्रकार इस उपमा के शब्दो को कम करके हम उसका एक रूपक बनाते है। रूपक समाज और भाषा की उन्नति का चिन्ह है। बिना एक विशिष्ट संस्कार के प्राप्त हुए रूपक नही बन सकता। हम कारक प्रत्ययो को उड़ाकर सामासिक शब्द बनाते है। यह भी भाषा और मनुष्य की विचार-शक्ति की उन्नति प्रकट करते हैं। समास के भीतर जो ओजस् है, वह विचार-शक्ति ही का ओजस् है। समय पाकर यह समास या यह रूपक सर्वत्र फैलता है, सभी लोग उससे काम लेते है, शनैः शनैः हम यह भाव भी भूल जाते हैं कि इसकी जड़ मे दो वस्तुओ के मध्य का सम्बन्ध है। इस

तरह तो आप मुझ से पार न पाएँगे, हम लगभग भूल ही गये हैं कि इस वाक्य मे नदी अथवा समुद्र को नॉघ जाने की कल्पना है।

इस अलङ्कारिक भाषा मे प्रौढ़ता तो है, परन्तु उसका सार्वत्रिक व्यवहार होने से उसका प्राण निकल गया है, केवल उस सस्कार का ढाचा मात्र रह गया है। भाषा में शब्द-रचना बढ़ गई, किन्तु उसी परिमाण मे उसका अर्थवाहित्व कम हो गया। शिक्षा का कार्य है, उस अर्थवाहित्व को जाने न देना, या जो गया है, उसका पुनरुद्धार कर देना। पुराने भूले हुए संस्कारो को जागृत कर देना भी उतना ही महत्वपूर्ण काम है, जितना नई उपमाओ का खोजना, नये सस्कारों का निर्माण करना। इसीलिए शब्दो और अलङ्कारो की व्युत्पत्ति के खोजने को उच्च शिक्षा का महत्त्वपूर्ण अङ्ग हम मानते हैं। 'कुशल,' 'अनुकूल,' 'गोत्र,' और 'अलङ्कार' आदि शब्दो की व्युत्पत्ति खोजने से हमे कुछ पुराना इतिहास मिलता है! और फिर इन शब्दो का उपयोग करके हम गहरे भाव व्यक्त कर सक्ते हैं। शब्दो का इतिहास जानने से शब्द की शक्ति का ठीक ठीक नाप लगाया जा सकता है। हर एक शब्द के कुल, गोत्र इत्यादि के ज्ञान से हमारी भाषा शुद्ध और प्रतिष्ठित होती है। इसीलिए तो श्रद्धेय आदि ग्रन्थो के अध्ययन को शिक्षा मे अत्यंत महत्वपूर्ण विषय समझा गया है। आदि ग्रन्थों का अध्ययन करके हम विचारों और भाषा का मूल जान सकते हैं।

भाषा-वृद्धि के इस तत्त्व को देखकर हम उसका शिक्षा में उपयोग करते हैं, इसी तरह हमारे आचार-व्यवहारो के सम्बन्ध में भी होना चाहिए। जब हमारे दिल मे जन-समाज के सुख के

लिये कुछ करने की इच्छा उत्पन्न होती है, तब हम उसके अनुसार कुछ परोपकार का काम करते हैं। यदि वह काम समाज को अनुकूल जॅचा तो धीरे धीरे वही रिवाज या आचार मे परिणत हो जाता है। अतिथि-सत्कार, प्रियजनो से सहानुभूति की समवेदना आदि रिवाज इसी तरह के है। पहले तो सामाजिक सेवा की वृत्ति से परोपकार का कार्य होता है, फिर वही कर्म जब रिवाज बन जाता है, तब इस रिवाज के कारण समाज-सेवा की वृत्ति उत्पन्न होती है या टिकी रहती है। सामाजिक संस्कार, जातीय रिवाज या प्रथायें अथवा विवेक इत्यादि वस्तुओ के भीतर ओजस् होता है। यही सच्चा सुधार भी है। किन्तु अधिक समय बीत जाने पर, इन प्रथाओं का भीतरी तत्त्व भुला दिया जाता है, संस्कृति का प्राण उड़ जाता है और उस ओजस् का प्रथा के रूप मे केवल ढाँचा रह जाता है। प्राण का स्वभाव ही यह है कि वह एक ही शरीर मे बहुत समय तक स्थिर नही रहता। जीवित अवस्था मे भी हमारे शरीर में प्रतिदिन रूपान्तर होता रहता है। जब हमारी यह रूपान्तर करने की शक्ति घट जाती है, तब हमे शरीरान्तर करना पड़ता है। भाषा मे भी उपमा से रूपक तक का रूपान्तर होता है। फिर इसी साम्य को बतलाने के लिए नई उपमा की सृष्टि होती है। बस, वही शरीरान्तर है।

ठीक यही बात रिवाजो की भी है। प्रथाओं के भीतर जो प्राण है, उसे यदि स्थिर रखना हो, संस्कृति को तेजस्विनी बनाये रखना है, तो इनके भीतर भी रूपान्तर और शरीरान्तर करना ज़रूरी है। शिक्षा-द्वारा हम पुरानी जीर्ण-संस्कृति का रूपान्तर करते हैं और नवीन संस्कृति का रास्ता साफ करते हैं।

अर्थात् अध्ययन मे निरन्तर भूत और भविष्य के प्रान्तो को स्पर्श करते रहना चाहिए। यह नियम अत्यन्त रहस्यपूर्ण और महत्त्वपूर्ण है। यह तो शिक्षा-शास्त्र का एक आधार-स्तंभ ही है। संस्कृति को सुरक्षित रखने का मूलमंत्र भी यही है। हमने पातिव्रत-वृत्ति का विकास सती-दहन तक किया। यदि प्रत्येक सत्कर्म को हम प्रथा का रूप दे देते है तो पहले पहल तो उसका ओजस् खूब बढ़ता है, किन्तु बाद मे वह निष्प्राण खोखला बन जाता है। इसीमे संस्कृति का नाश है। अतः शिक्षा द्वारा संस्कारो को सदा चैतन्य प्राण देकर संस्कृति के अग्नि को सदा प्रज्वलित बनाये रखना ज़रूरी है। रूढ़ि या विचारो का अभाव दोनो संस्कृति रूपी अग्नि को ढाँपने वाली राख हैं। समाज को चाहिए कि अपना जीवन विचारवान् बनाकर, अर्थात् निरन्तर शिक्षा रूपी फूंको के द्वारा अग्नि पर ओटने वाली राख को उड़ाते रहे। और यथासमय उसका रूपान्तर और देहान्तर भी करता रहे। संस्कृति को प्राणवान् और विकासशील बनाये रखने का यही तरीक़ा है।

युद्ध का मर्म

जब मनुष्य पानी में तैरना सीखता है, तब एक दो दिन तो कितना ही परिश्रम करने पर भी उसे प्रगति का एक भी चिन्ह नहीं दिखाई देता। निराश होकर वह दिल ही मे कहता है कि, "सब तैरना जानते होंगे, किन्तु मुझे तो तैरना कभी नहीं आवेगा।" इस तरह की निराशा के उद्वेग मे यदि वह अपने प्रयत्न को न छोड कर सिर्फ एक ही दिन अधिक प्रयत्न करता है, तो उसे यह देखकर आश्चर्य होता है कि मैं विना किसी तरह की वाहरी सहायता के ही पानी मे तैर रहा हूँ। किन्तु फिर भी उसे विश्वास नहीं होता। उसे मालूम होता है कि जरूर मैं कहीं भूल रहा हूँ। अभी पानी मे तैर ज़रूर रहा हूँ, किन्तु दूसरे ही क्षण में डूब जाऊँगा। इस तरह फतह हासिल कर लेने पर भी उसे आत्म-विश्वास नहीं होता?

हमारा, यह स्वराज्य-प्राप्ति का प्रयत्न भी इसी तर्ज का है। ससार के प्रातःकाल से जो राज्य सुधरा हुआ गिना जाता था, जो राज्य इतिहास के आरंभ से ही संसार मे अग्रगण्य समझा जा रहा था, उसे स्वराज्य प्राप्त कर लेने में ही कितनी देर लगेगी? भारत का साम्राज्य हाथ मे आ जाने पर भी अँगरेजों को यही आश्चर्य होता था कि इतना वड़ा साम्राज्य इतने स्वल्प प्रयत्नो से ही कैसे हाथ लग गया? स्वराज्य प्राप्त कर लेने के वाद हमे भी यही

मालूम होगा कि स्वराज्य का मार्ग इतना सुगम होने पर भी सौ-दो सौ वर्ष तक हम गुलामी की दशा मे रह ही किस तरह सके ? अँगरेजो ने हिन्दुस्थान का साम्राज्य बीस पचीस वर्ष की अवस्था वाले, बिना डाढ़ी-मूछ के अननुभवी नवयुवको के द्वारा ही प्राप्त किया था। यदि हम भी निश्चय कर ले तो स्कूलो और कालेजो के विद्यार्थियो द्वारा स्वराज्य प्राप्त कर सकते हैं, इसमे कौन आश्चर्य की बात है ? नवयुवको मे श्रद्धा होती है, कल्पना-शक्ति होती है, उत्साह होता है और पवित्रता भी होती है, यदि वे भिड़ जायँ। संसार मे उनके लिए असंभव ही क्या है ? जिस दिन बङ्गाल के नवयुवको ने केसरिया वस्त्र पहन कर वङ्ग-भङ्ग को रद कराया, उसी दिन स्वराज्य का स्तम्भारोपण हो गया। इसके बाद अब यह प्रश्न तो केवल समय का है कि यह मङ्गल यज्ञ कब समाप्त होगा। खेड़ा जिले मे जब किसानो ने प्रजा-पक्ष को ही विजयी बनाया, तभी से हम कुछ अंशो मे स्वराज्य भोगी हो गये। नागपुर मे जिस दिन हमने शुद्ध स्वराज्य का प्रस्ताव स्वीकृत किया, उसी दिन से हमने एक राष्ट्र की हैसियत से मानसिक स्वातंत्र्य प्राप्त कर लिया। अब तो केवल उसको मूर्त रूप ही देना शेष है, स्वराज्य-संचालन के लिये केवल एक कार्यकारी-मण्डल उपस्थित कर देने मात्र की देरी है। हाँ, जब सरकार मैदान मे आएगी, तब हमे उसे एकबार अपनी ओर से यह दिखला देना है कि हमने स्वराज्य को प्राप्त करने का दृढ़-अटल निश्चय कर लिया है जब नदी का पानी समुद्र की ओर जाने का निश्चय करता है, तब वह बिना पूछ-ताछ किये ही शान्ति-पूर्वक अपनी राह पकड़ लेता है और बहने लगता है। जब उसकी प्रगति मे कोई रुकावट होती है या चट्टान-टीला

आता है तभी उसके निश्चय की परीक्षा होती है। जब पानी उस टीले पर से गिरने लगता है, तब वह इस बात का हिसाब नहीं लगाता कि मुझे कितनी ऊँचाई से गिरना है। क्यों ? इसलिये कि उसे यह विश्वास होता है कि जब तक मैं अपना धर्म न छोड़ूँगा, भले ही मैं असंख्य छोटे छोटे बिन्दुओं में, कणशः छिन्न भिन्न हो जाऊँ, मेरा नाश कदापि नहीं हो सकता। यदि रास्ते में कोई बड़ा सा पत्थर या बाँध उसके प्रवाह को रोकता है तो वह पानी न तो आगे जाता है, और न पीछे ही को हटता है। वहीं खड़े रह कर वह अपनी शक्ति को इकट्ठी करता है और अन्त में रुकावट के सिर पर सवार हो, पद-दलित कर, जरा घूम कर या उसके पाये में छेद कर के वह अपना रास्ता निकाल लेता है। असहयोग का मार्ग ही ठीक ऐसा भी है। वह पानी ही के समान कोमल है, शान्तियुक्त और अहिंसक भी है, तथापि साथ ही पानी ही के समान अमोघ भी है। इस शस्त्र को धारण करने वाले पुरुष में पानी ही के समान पवित्रता और उतनी ही श्रद्धा भा होनी चाहिए।

सवाल यह है कि क्या भारत के नवयुवक यह सिद्ध करके दिखा देंगे कि उन मे वह पानी है ? भारत-माता ने असह्य दुःख झेले हैं। भारत का दुःख ईश्वर से भी देखा नहीं जाता। इसी लिए तो उसने आज ऐसे सयोग इकट्ठे कर दिये हैं जिस से भारत स्वराज्य प्राप्त कर सके। क्या नवयुवक उसे सह लेंगे जो ईश्वर के लिये भी असह्य है ? जब अनुकूलता नहीं थी, अवसर नहीं था, तब हम अवसर की मार्ग-प्रतीक्षा कर रहे थे। आज अवसर मिल गया है। अनुकूल समय आ गया है। संसार

मे पुराने जमाने का अन्त हो गया है और नव-युग शुरू हो गया है। क्या ऐसे समय भारत के विद्यार्थी मुर्दे की शान्ति, हाँ, मरे मुर्दों की निश्चेष्टता ही प्रकट करते रहेगे? क्या वे अपने अगुआओ की तपश्चर्या को निष्फल कर देगे? क्या इस समय विद्यार्थी और जय तथा पराजय का हिसाब लगाते रहेगे? यह होही कैसे सकता है? हिन्दुस्थान का नेतृत्व आज गुजरात के घर आया है। गुजरात ने ही स्वतन्त्र विद्यापीठ स्थापन कर के इसे बताया है।

कितने ही विद्यार्थी इसी विचार मे पड़े हुए हैं कि भविष्य में क्या होगा, क्या आशायें Prospect हैं, कुशल किधर है? दूसरे कितने ही विद्यार्थी देश मे अगुआओं से शर्तें कर रहे है, मानो भारत उन नेताओ का जागीरी गॉव हो, और वे खुद वेतन के लिये किराये के—अपना जीवन बेचने वाले—सिपाही हो। आज का युद्ध अँगरेज़ी राज्य को निकाल कर किसी दूसरे राजा का राज्य स्थापन करने के लिए नही, यह युद्ध तो स्वराज्य के लिए है, धर्म-राज्य स्थापन करने के लिए है। यह युद्ध कपट युद्ध नही जिसमे कपट-पटु सेनापति की ज़रूरत हो। युवको, किस लिये नेताओ की राह देख रहे हो? जिनके हृदय मे सत्य हो, बहादुरी हो, वे अपनी शक्ति का हवन करके, कुरबानी करने को तैयार हो जायॅ, घूम कर पीछे देखने का ख्याल भी दिल मे न लावे, तभी तो कल्याण है। अगुआओ के पास जाकर उन्हे हमारे चरितार्थ की व्यवस्था करने को कहकर उनका काम और कठिन करने का यह समय नही है। क्या हमारे नवयुवको मे इतनी भी हिम्मत और कल्पना नही है कि स्वाधीनता के इस युद्ध के कुसमय मे अपनी बहादुरी और बुद्धि-

शक्ति से फ़तह हासिल करलें। उनका मुख्य काम तो यही है कि दूसरों के अन्दर भी वही नव-जीवन की ज्वाला प्रज्वलित कर दें, जो खुद उनके अंदर जगमगा रही है। खुद आपके तथा दूसरे के अंदर भी यह भावना और निश्चय कर लें कि प्राण दे देंगे किन्तु अब पराधीन गुलाम बनकर नहीं रहेंगे।

कार्थेज की अवलाओं ने शस्त्रों के अभाव मे अपने लम्बे बाल काट कर उनसे बहुत अच्छी डोरियाँ बना बना कर कार्थेज के वीरों को सजाया था और उन्हे युद्ध करने के लिए भेजा था। क्या स्वराज्य प्राप्त करने के लिये, हिन्दुस्थान की नग्नावस्था की लज्जा बचाने के लिये, हम अपने तीन हज़ार वर्षों के साथी चरखे को हाथ में नहीं ले सकते? घर से पचीस पचीस, तीस तीस रुपये लाकर कालेजों मे पढ़ने वाले विद्यार्थी क्या अपना निर्वाह अपनी ओर से नहीं चला सकते? काशी के असहयोगी विद्यार्थियो से पूछिए। वे अपने असहयोगी अध्यापक श्री जीवराम कृपालानी के पास गये और उनसे कहा, 'हमे घर से पचीस रुपये इस महीने के मिले हैं, हम पचीस रुपये मे एक की जगह दो मनुष्यो का निर्वाह करेंगे, जिससे उतने ही रुपयों मे हमारी दूनी संख्या का निर्वाह हो। आप जितना पढ़ा सकें पढ़ाइयेगा, शेष समय हम अपने अपढ़ भाइयो के पढ़ाने मे व्यतीत करेंगे। रात्रि-शाला चलायेंगे?' उनकी तपस्या प्रारम्भ हुई और इसी विशुद्ध और कठिन तपश्चर्या के पाये पर काशी का नया राष्ट्रीय विद्या-पीठ स्थापित हुआ है। वे लोग नेताओ के पास यह पूछने के लिए नहीं गये थे कि हमारा क्या होगा? हमारा क्या होगा, इसका उत्तर वे खुद भी वह नहीं जानते थे कि आगे उनका क्या

होगा किन्तु गुरु भी वैसा ही था। उसकी जेब मे केवल सौ रुपये थे। अन्त मे काशी धनिको को लज्जा उत्पन्न हुई, उन्होंने आकर पूछा—'आप सबका निर्वाह किस तरह होता है?' और बिना माँगे सहायता दी। जहाँ इस तरह की श्रद्धा हो, वही वह श्रद्धा कही जा सकती है।

देहातो में जाने की बात सभी के गले उतरती है, परन्तु वहाँ जाकर क्या करना है, इसका विचार ठीक कर लेना चाहिये। वहाँ अधिकारी बन कर नही जाना है, वहाँ प्रायश्चित्त करने के लिए हमे जाना है। अन्न, वस्त्र, बुद्धि और कर्म हर एक विषय मे विदेशी सरकार की सेवा करने के लिये, परदेशी लोगो के चरणो मे यह सब अर्पण करने के लिये, हमने इतने दिन देहात को चूसा है, उसका प्रायश्चित्त करना है। हम उसका प्रायश्चित महासभा को साक्षी रख कर करेंगे। हमारा आत्म-बलिदान जितना सच्चा और बहुमूल्य होगा, स्वराज्य उतना ही हमारे नजदीक आवेगा। लम्बे लम्बे व्याख्यानों से नही, किन्तु देशमें रहने वाली जनता की सच्ची सेवा करके उनका नेतृत्व प्राप्त करना चाहिये।

इस तरह देहात की जनता को हमे यह पाठ पढ़ाना होगा कि जब स्वराज्य का युद्ध, जब उनके गॉव तक पहुँचे, तब वे शान्त और मजबूत रहे। और यही स्वराज्य-प्राप्ति की सच्ची तालीम है।

प्रथम स्नातकों के प्रति

जब असहयोग युद्ध का आरम्भ हुआ, तब राष्ट्र की इज्जत के लिये तुमने पहले पहल अपनी आहुति दी। तुमने सरकार की शिक्षा का त्याग किया। तुम्हें यह मालूम हुआ कि राष्ट्र के लिये इतना करना तो जरूर ही चाहिये और तुमने वह कर डाला। तुमने इस बात का विचार तक न किया कि तुम्हारा साथ कितने लड़के देंगे। तुमने आशा की थी कि तुम्हारे समान और भी हज़ारों को स्वार्थ-त्याग की प्रेरणा होगी। किन्तु यदि तुम्हारे ही समान सभी विद्यार्थी सरकारी शिक्षा का त्याग कर देते तो आज हम जरूर ही स्वराज्य-मन्दिर के दरवाज़े पहुँच गये होते। परन्तु उस के साथ ही यह भी सिद्ध हो जाता कि अँगरेज़ी शिक्षा का दुष्ट प्रभाव बहुत गहरा पहुँचा था। यदि देश की आज्ञा होते ही देश का प्रत्येक विद्यार्थी सरकारी स्कूल-कालेज से बाहर हो जाता तो सरकारी शिक्षा के विरोध में अधिक कुछ कहने की जरूरत ही न रहती। इसीलिये तुम्हारा स्वार्थ-त्याग इतना मूल्यवान हो गया है। आत्मा को कुचल डालने वाली शिक्षा में रहने पर भी तुमने अपने आत्मा को जागृत रक्खा। इसी कारण तुम ..पना मुक्ति-साधन कर सके।

सांसारिक दृष्टि से तुमने बड़ा ही स्वार्थ-त्याग किया है, परन्तु

वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो तुमने एक श्रेष्ठ स्वार्थ ही की साधना की है। मानहानि, तेजोवध, और बुद्धि-भ्रंश, जिस शिक्षा का पुरस्कार है, यदि तुमने उसका त्याग किया भी तो इसमें तुमने क्या गँवाया ? ऐसा जीवन—"ऐसी कैरीअर" कि जिससे स्वराज्य दूर हो—स्वराज्यवादी की दृष्टि से तो हराम ही है, अतएव तुमने गँवाया तो कुछ भी नहीं। परन्तु यह तुम्हारी बहुत भारी कीर्ति है कि इस स्वराज्यवादी दृष्टि का तुमने ऐसे समय स्वीकार किया—जब उसे बहुतेरे स्वीकार न कर सके थे। जिस परिस्थिति मे तुम छोटे से बड़े हुए, जिन विचारो मे तुम्हारा बचपन बीता, उसकी हीनता का ज्ञान होने पर फौरन ही तुम उसका त्याग कर सके, इस से यही जाहिर होता है कि तुम्हारा आत्मा प्राणवान है। सत्य मालूम होते ही उसका तुरन्त स्वीकार कर लेना, महात्माओं का जीवन-सिद्धान्त होता है। जीवन के आरम्भ ही मे तुमने उस पर आरोहण किया और इसी से देश के अगुआओ को युद्ध आगे चलाने का साहस हुआ। तुम्हारे उत्साह को देख कर ही विद्या-पीठ जैसी स्थायी संस्था के संस्थापन करने का अनुरोध उन्होंने स्वीकार किया। अनेक विद्वान् तुम्हारी सेवा करने के लिये और तुम्हारे द्वारा अपने निष्फल जीवन का जहाँ तक बन सके सार्थक करने के लिये, अपने स्वप्नो को प्रत्यक्ष कार्य मे परिणत देखने के लिये और अपने पूर्व कर्मों का प्रायश्चित्त करने के लिए, वे एकत्र हुए। तुम्हारा और तुम्हारे लिए किया गया स्वार्थ-त्याग महान् है। अब तुम उस स्वार्थ-त्याग के योग्य बनो, जिसमे कोई यह न कहे कि तुम्हारा त्याग क्षणिक उत्तेजना का परिणाम था। तुम्हारे सारे जीवन को इस बात की पूर्ति करनी चाहिए कि

जिस दिन तुमने सरकारी संस्थाओं को छोड़ा, उसी दिन तुम्हारे जीवन तत्वों में क्रान्ति हो गई, तुम द्विज बने ।

सरकारी और राष्ट्रीय दोनों प्रकार की शिक्षा के संस्कार तुम पर पड़े हैं। जब तुम राष्ट्रीय महाविद्यालय मे आये, तब वहाँ कुछ भी तैयारी नहीं थी। यह तो नहीं कहा जा सकता कि राष्ट्रीय-शिक्षा की सम्पूर्ण योजना का लाभ तुम्हें मिला है, परन्तु इसमें शक नहीं कि तुम्हे राष्ट्रीयता का चैतन्य जरूर मिला है, दोनों पद्धतियों का सामान्य स्वरूप तुम्हारी दृष्टि के सम्मुख है ही। तुम्हारे जीवन से अनायास यह सिद्ध हो जाना चाहिये कि राष्ट्रीय-प्रेरणा से मनुष्य के जीवन में कैसा अद्भुत परिवर्तन हो जाता है ।

सत्याग्रही, असहयोगी और राष्ट्रीय विद्यार्थियों की आत्मशुद्धि-जन्य विनय, और विवेक तुम्हारा अलङ्कार है। स्वदेश, स्वधर्म और स्वभाषा की उन्नति की साधना के लिए तुम व्रतबद्ध हो अपने इष्ट देवता के समान ही तुम इन तीनों की पूजा करो। इन तीनो में तुम्हारी ऐसी भक्ति हो कि तुम्हारे सामने इन तीनों में किसी एक की भी अवहेलना या हँसी न होने पाये। स्वभाषा की प्रतिष्ठा गवाँ कर तुम कभी अपनी प्रतिष्ठा को सुरक्षित नहीं रख सकते। स्वदेश का अपमान सहकर तुम कभी अपने आत्म-सम्मान की रक्षा नहीं कर सकोगे। स्वधर्म की श्रद्धा खो कर तो तुम किसी समय भी आत्म-श्रद्धा का विकास नहीं कर सकते। स्वधर्म अग्नि के समान है। इसके सहवास से हमारे दोष जल जाते हैं और बाद वह हमें अपने समान ही तेजस्वी बना देता है। आज उस अग्नि पर कुसंस्कारों की राख पड़ गई है, इस

लिये उपेक्षा न करो, उस पर पानी न डालो, बल्कि अपने प्राणों से फूँक लगाकर उसे प्रज्वलित करो ।

तुमने अपने कुल-पति और आचार्य को साक्षी रखकर पवित्रता की वर्दी को पहना है और कंधे पर राष्ट्रीय ध्वजा के रङ्गो को धारण किया है। उसका अर्थ है—"मैं अपना मस्तक अर्पण कर दूँगा, परन्तु इस राष्ट्र-ध्वज का अपमान न होने दूँगा। भले ही अन्यान्य मनुष्य खादी की चर्चा करें, परन्तु तुम्हारे लिये तो वह धर्म की वस्तु है, वह तुम्हारी विद्या की प्रकाशक है। हम जैसे माता-पिता और वंश की चर्चा नहीं करते, ईश्वरीय देन समझ कर उसे शिरोधार्य कर लेते हैं, खादी के लिए भी तुम्हारे अंदर वही आदर हो। यह खादी तुम्हारे कुलपति की दीक्षा है। समस्त विद्याओ का मूल, संस्कृति का आधार—सत्य और अहिंसा, ये तुम्हारे कुलपति का मन्त्र है, इसे ग्रहण कर तुम संसार मे संचार करो। तुम जिस किसी स्थिति मे होगे, तुम्हारी विजय ही होगी। आज तुम्हे स्वराज्य के सैनिक की हैसियत से कार्य करना है। भारत की शालीनता और शूरता तुम्हारे द्वारा प्रकट होगी, इसलिये जहाँ कहीं दीन-दुर्बलो पर अत्याचार होते हो, वहाँ तुम निर्भय होकर अकेले होने पर भी युद्ध करना। जहाँ जहाँ क्षुद्र स्वार्थ, मत्सर या ईर्ष्या हो, वहाँ तुम उसे अपनी उदारता द्वारा लज्जित करो और प्रेम-पूर्वक अपने वश मे करो। तुम स्वयं मुक्त हो जाओ और संसार को भी मुक्त करो। इसीमें तुम्हारी विद्या की सार्थकता है, क्योंकि—

सा विद्या या विमुक्तये ।

सुधार का मूल

रेल्वे में कई बार भीड न होने पर भी लोग झगड़ा करते हैं। यदि हर एक मनुष्य अपने बैठने योग्य जगह लेकर बैठ जाय तो सभी सुख से बैठ सकें, पर कितने ही लोग बिना कारण स्वार्थी और मनुष्य शत्रु होते हैं। उनका यह हठ होता है कि लड़-भिड़ कर उन से जितनी जगह रोकी जा सके, उतनी रोक कर ही हम मानेंगे। फिर परवा नहीं यदि उन्हें ऐसा करते हुए ज़रा भी आराम न हो रहा हो, बल्कि उन्हें उलटा दुःख भी झेलना पड़ता है। बेंच के ऊपर अधिक जगह रोकने के लिये यदि बिस्तर न हो तो वे पलथी ही मार कर बैठेंगे और उस पलथी को भी इतनी पोली करेंगे कि पैरो की सन्धियाँ दुखने लग जायँ। जब तक उनकी लात दूसरे को न लग जाय, उनके मन में तब तक यह विश्वास ही नहीं होता कि हमारा स्वार्थ पूर्ण हो गया। जब तक उन के पैर दूसरे से न छू जायँ, यदि इसके पहले हर एक मनुष्य सौजन्य-पूर्वक एक दूसरे की ही सुविधा का ख्याल रखते हुए सन्तोष-वृत्ति का विकास करे तो किसी को भी दुःख न हो और सभी आराम से प्रवास कर सकें।

शहरो और देहात में जब लोग घर बनवाते है, उस वक्त भी इसी प्रकार पड़ोसी-पडोसी में झगड़ा हो जाता है। उस जगह भी लोग सुख-दुःख अथवा सुविधा-असुविधा आदि का विचार

छोड़ कर महज़ स्वार्थ-धर्म के प्रति वफ़ादार बने रहने के लिये कई बार लड़ते हैं। यदि मेरी एक बालिश्त भर जमीन चली जाने से मुझे कुछ भी हानि न होती हो और उसके पड़ोसी को मिल जाने से उसकी उत्तम सुविधा हो जाती हो, तो भी मुझ से उसका स्वार्थ-त्याग नही किया जाता, मेरा जी ही नही चलता। कदाचित मुझ मे इस वक्त कही सद्‌बुद्धि का स्फुरण हो भी तो मेरे स्वर्ग-सम्बन्धी मुझे दुनियादारी की चतुराई सिखाने के लिए आते हैं। 'तू पागल तो नही हो गया है? इस तरह कर्ण सा दान-वीर बन कर परोपकार करने लगेगा तो लोग तुझे दिन-दहाड़े बाबाजी बन देंगे, कुछ बालबच्चो के लिये भी रखेगा या नही? अरे, उसका तो काम ही रुक रहा है, पॉच-सात सौ रुपये माँग ले उससे। तेरा तो हक ही है; छोड़ता क्यो है? न दे रुपये तो सोता रहे, अपने घर मे। अरे हॉ, हमे कहॉ गरज पड़ी है? जमीन अपनी। कही भागे थोड़ी जाती है? स्वार्थ-धर्म की यह आज्ञा अस्वीकृत हो ही नहीं सकती। स्वार्थ-धर्म के आगे पड़ोसी-धर्म फीका पड़ता है, अथवा नष्ट हो जाता है। इसीलिये इस युग का नाम कलियुग पड़ा है। कलि का अर्थ है—कलह।

दो कुटुम्बों के बीच मे जब विवाह-सम्बन्ध जोड़ा जाता है, तब भी यही दशा होती है। जो परकीय था, वह सम्बन्धी हुआ, अतएव उसके साथ प्रेम धर्म का व्यवहार होना चाहिये न, पर नही; वहॉ भी व्यवहार-रीति के कलह उत्पन्न होवेगे ही। मान-सम्मान मे कही छोटी सी छोटी रीति भी रहने न पावे। मालिक के यहाँ गालियॉ भी सुननी पड़ती हो तो परवा नही, दफ्तर मे अफ़सरो की फटकारें नीचा सिर करके सुन सकते हैं, परन्तु समधी के

पास से तो रीति के अनुसार पूरी चीजें जरूर ही मिलनी चाहिएँ; नहीं तो दुलहे को लौटा ले जाने को तैयार हो जाते हैं। विवाह का मङ्गलाचरण होता है ईर्ष्या और डाह से। यही दशा है जातियो की। पारस्परिक अविश्वास और असीम स्वार्थपरता। किसी मे इतनी हिम्मत ही नहीं कि अपने स्वार्थ को छोड़ दे। यह कायरता! जहाँ देखिए तहाँ यह बुराई फैली हुई है।

जब घरो मे यह दशा, जाति-पाँति मे यह दशा, तब राष्ट्रों राष्ट्रों के बीच दूसरा और हो ही क्या सकता है? यदि पड़ोसी राष्ट्र निर्बल हो तो उस पर जरूर ही आक्रमण करना चाहिये, यदि वह बलवान् हो तो उसका पड़ोसी सर्वदा भयभीत दशा मे रहता है, बल्कि उसको कमजोर करने के लिए कोई षड्यंत्र और उसके सम्मुख मृदुता करता रहता है। यह भी नहीं कि समानबल पडोसी हो तो शान्ति से रहे, परन्तु ऐसा नहीं, क्योंकि मनुष्य को समानता कब प्रिय लगती है? वहाँ भी एक से दूसरा आगे बढ़ने के लिये प्रयत्न करता रहता है और अन्त मे वहाँ भी अविश्वास और विरोध! हर एक पक्ष यही कहता है कि अपने बचाव तथा आत्मरक्षण के लिये हमे इतना तो करना ही पड़ता है। दो प्रबल राष्ट्रो के बीच यदि एक छोटा सा राष्ट्र हो, तब प्रबल राष्ट्र यों विचार करते हैं, यदि मै इसे न ले लूंगा तो वह (दूसरा) तो जरूर ही इसे समेट लेगा और इसकी सहायता पाकर बलिष्ठ बन कर मुझ पर आक्रमण करेगा। इसलिए क्या बुरा होगा यदि मैं ही अन्याय कर के इसे भी ले लूँ! जितने साम्राज्य बढ़ते हैं, सब इसी नियमानुसार बढ़ते हैं।

स्वार्थ और अन्यायपूर्ण प्रतिस्पर्धा आज यूरोप मे सर्वव्यापी

हो गयी है और यही सिद्धान्त उनकी राज-नीति के मूल तत्व हैं। किन्तु इससे यह मान लेना भूल है कि यह तो मनुष्य-स्वभाव ही है। भले ही यूरोप आज सुव्यवस्थित पाशविक शक्ति को सुधार मान ले—पर सच्चा सुधार तो प्रेम-धर्म और पड़ोसी-धर्म ही में है। हमे श्रद्धापूर्वक अपने अन्दर इस पड़ोसी-धर्म का विकास करना चाहिये। जो सज्जनता दिखलाते हो, उनके साथ मैत्री और जो दुर्जन बन गये हो, उनके साथ असहयोग करना, यही प्रेम-धर्म का नियम है। प्रेम-धर्म सहानुभूति रखता है, सहायता देता है, परन्तु दीन बन कर सहायता की अपेक्षा नही करता। प्रेम-धर्म निर्भय होता है और इसीसे प्रेम-धर्म अमर्याद है। हम जिस पर प्रेम करते है, यदि उसकी शक्ति बढ़ती है तो हमे भय नही हाता, बल्कि हमारा मित्र जितना ही निर्बल होगा, उतने ही हम कमज़ोर माने जायेगे।

जहाँ अविश्वास का वातावरण हो, वहाँ उसे दूर करने के लिये, प्रेम असाधारण धैर्य और सहिष्णुता का विकास करता है, नम्र बनकर वह चढता है और असीम स्वार्थ-त्याग करके विजय को प्राप्त करता है। प्रेम-धर्म मे गवाँना ज़रूर पड़ता है, परन्तु थोड़े दिन के लिए; अन्त मे उसकी अक्षय विजय होती है। इस प्रेम-धर्म का उपयोग कुटुम्ब से लगाकर राष्ट्रो २ के सम्बन्ध पर्यन्त फैला देना, यही सब सुधारो का मूल है और वही फल भी है।

सुधार की सच्ची दिशा

मनुष्य की स्वाभाविकी वृत्तियाँ और उसकी सद्‌बुद्धि एक दूसरे के अनुकूल (समरस) जब होंगी तब होंगी, आज तो वस्तुस्थिति वैसी नहीं है । आज हम दोनों मे विरोध है, आज जो मीठा लगता है, वह पथ्य नहीं होता । जो सुखप्रद प्रतीत होता है, वह कल्याणकर नहीं होता, जो प्रेय होता है वह श्रेय नहीं होता, कर्तव्य मार्ग दुःखदायी लगता है और सुख का मार्ग हितकर नहीं होता । हमारी स्वाभाविक वासनायें हमें आप ही आप पशु-जीवन की ओर खींच कर ले जाती हैं । ईश्वर ने मनुष्य को वह विवेक-बुद्धि दी है, जो पशु को नहीं दी । पशुओ को कार्याकार्य-विचार नहीं होता; मनुष्य को यह विचार करना पड़ता है । पर हमारी वासनायें कई बार इतनी प्रबल हो जाती हैं कि विवेक-बुद्धि को दबाकर वे तर्क-शक्ति को अपने अधीन कर लेती हैं । और यह तर्क-शक्ति न्यायान्याय का किसी तरह विचार न करने वाले पेट-भरू वकील के समान वासनाओं का पक्ष लेती है । जो सुखकारी है वही कल्याणकारी है, जो प्रेम है वही श्रेय भी है, इस तरह की दलीलों की पूर्ति करने मे तर्क-शक्ति खर्च होती है । त्याग-आनन्द को भूलकर भोग की लालसा वृद्धि पाती है। तर्क-शक्ति भी मधुर वाणी से कहती है—'मनुष्य-जन्म भोग ही के लिए तो है, नाना प्रकार के विषयों का उपभोगन करना

मनुष्य का स्वत्व है। इस अधिकार का लाभ उसे ज़रूर उठाना चाहिये। भोग ही मे तो मानव-जन्म की सफलता है। भोग-क्षमता ही सस्कृति है, यही सुधार है।' इस तरह अधर्म को धर्म समझने से आत्म-वञ्चना होती है।

इस तरह बहुतेरे लोग वासनाओ के वश हो गये हैं, क्योंकि किसको 'सु' और किसको 'कु' कहना यही नही सूझ पड़ता। उच्छृङ्खल मन को तर्क-शक्ति का अवलम्बन मिलने पर आने वाली अनर्थ-परम्परा को कौन रोक सकता है? जिससे आत्म-संयम नहीं हो सकता, उसे मनुष्य-जाति कितना ऊँचा चढ़ा सकती है? इसकी कल्पना उस आदमी को किस तरह हो सकती है, जो आत्म-संयम को जानता ही नही? ऐसे मनुष्य मानव-जाति का ध्येय कैसे निश्चित कर सकते है? मानव-जाति का श्रेय क्या है? उच्च वृत्तियाँ कौन सी हैं? आर्य जीवन कैसा होता है? अर्हत् पद का मार्ग कौन सा है? समाज का अन्तिम ध्येय क्या है। इन विषयो का निर्णय ऐसे अनधिकारी मनुष्य नहीं कर सकते। धन-लोभ के कारण कृपण का हृदय शून्य हो जाता है। उसे यदि ये ही सवाल पूछेगे तो वह कहेगा—'धन'। द्रव्य मानव-जाति का ध्येय है। 'अर्थो हि नः केवलम्।' शृङ्गार-पूर्ण उपन्यासो को पढ़ने वाले उन्मत्त मनुष्य से यदि हम पूछेंगे तो वह भी तुरन्त "रम्या रामा मृदुतनुलता" की बाते करने लगेगा। इसी तरह क्रिकेट और टेनिस के खेलनेवाले कहेंगे कि हमारे खेलो ही से मनुष्य की उन्नति होगी। गाना-बजाना, ताश, या शतरञ्ज खेलना, घुड़दौड़ करना और चिड़ियाँ पालना इत्यादि धुनो ही मे जो लोग मस्त रहते हैं, यदि उन्हे पूछा जाय कि भाइयो! मानव जाति का अन्तिम ध्येय

क्या है तो वे भी सिवा उसी एक उत्तर के और कुछ न कहेंगे।

ऐसे अनासक्त साम्यस्थित मन वाले महात्मा ही, जिन्होंने अपनी पशु-वृत्ति पर विजय प्राप्त की है और जिनका मन क्षुद्र स्वार्थ के वश नहीं है, यह ठीक ठीक समझ सकते हैं कि 'मनुष्य का श्रेय किसमें है'। जिस तरह मुद्दई मुद्दालेह यह नहीं देख सकते कि कलह मे न्याय किसके पक्ष में है, बल्कि निष्पक्ष पञ्च ही उसे देख सकते हैं। इसी तरह मानव जाति का ध्येय क्या है, इस बात को निरपेक्ष और धर्मज्ञ स्मृतिकार-समाज के व्यवस्थापक ही बतला सकते हैं। मनुष्य जाति अपनी पशु-वृत्ति पर विजय प्राप्त करके कितनी ऊँची चढ़ सकती है, यह बुद्ध, ख्रिस्त और तुका-राम जैसे अनेक महात्माओं ने प्रत्यक्ष उदाहरण से बतला दिया है। संसार के सभी देशो में, सभी जातियों मे, सभी धर्मो मे और सभी युगो मे ऐसे दैवी पुरुष उत्पन्न हुए हैं। इस पर से सिद्ध है कि प्रत्येक मनुष्य प्रयत्न करने पर उस भूमिका तक पहुँच सकता है।

कहा जाता है कि मनुष्य प्राणी अपने पुरुषार्थ से क्या क्या कर सकता है, कहाँ तक अपनी उन्नति कर सकता है इत्यादि का यथार्थ पाठ देने के लिये तथा मनुष्य प्राणी के लिए उसका ध्येय निश्चित कर देने के लिए परमेश्वर अव-तार लेकर, मानव देह धारण करके मानवी कृतियो को करता है। इस कथन का रहस्य भी यही है। ध्येय मानव जाति की उन्नति की परिसीमा है। वह किसी खास समय खास व्यक्ति और उस व्यक्ति की शक्ति के अनुसार रहस्य बदलता नहीं है। एक भी मनुष्य यदि इस ध्येय को प्राप्त करके दिखा दे तो समझना चाहिए कि वह असम्भव नहीं है।

इस दृष्टि से देखे तो मनुष्य के जीवन-क्रम के दो विभाग होते है। एक ओर विषय-लोलुपता, आहार-निद्रा भय आदि पशु-व्यवहार-परायणता, स्वार्थ तथा हठ होता है। दूसरी ओर निर्विषयता, निर्भयता, इन्द्रिय-दमन, परोपकार-परायणता और कर्तव्य होते हैं। हर एक को अपनी शक्ति और परिस्थिति के अनुसार इस उच्च ध्येय को कार्य मे परिणत करने का प्रयत्न करना चाहिए। परन्तु अपने पीछे रहने वालो को जङ्गली या पापी कह कर उनकी हँसी न उड़ाना चाहिये। इसी प्रकार अपने से अधिक उत्साही व्यक्तियो को पागल भी न कहना चाहिए। और चाहे कुछ भी हो उच्चतम ध्येय को किसी भी समय अशक्य-अप्राप्य करार कर देना तो सरासर भूल है। क्योकि यदि हम ध्येय को एक बार भी उसके उच्च आसन से नीचे गिरा देंगे तो उसका शत-मुख नहीं, अनन्त मुख से विनिपात हो जायगा। जो स्थिर नही वह ध्येय काहे का? और उसके लिये स्नेह, दया, सुख और जीवन इन सभी को तिलाञ्जलि देने को तैयार होने योग्य निष्ठा मनुष्य मे किस तरह उत्पन्न हो? इसलिए ध्येय को अपनी ऊँचाई से कभी न गिराना चाहिए। आराध्य देवता के समान उसीकी हमेशा उपासना होनी चाहिए। और उसके साथ उत्तरोत्तर सालोक्य, सान्निध्य, सारूप्य और सायुज्य प्राप्त करने का प्रयत्न होना चाहिए। जो पीछे रह गये हो उन्हे आगे ले जाना चाहिये। जो आगे बढ़ गये हो उन्हे इससे भी आगे बढ़ना चाहिये। ध्येय को पा जाने तक किसी को कभी न रुकना चाहिए।

सभी सामाजिक सुधार इस उच्च ध्येय की, कर्तव्य की, इन्द्रिय-निग्रह की और संयम की दिशा मे होने चाहिये। जो

नीचे हो उन्हे ऊँचे उठा देना चाहिए। जो ऊँचे हो उन्हे नीचे गिराना, पवित्र ध्येय को छोड़कर सुखप्रद अधोगामी ध्येय की उपासना करना, तो सरासर अधःपात है।

आजकल सुधार ही को सब चाहते है, परन्तु 'सु' और 'कु' के बीच के भेद को तो कोई भी नही देखते। पिनल-कोड ने जिसे अपराध नही माना, कल पास होकर आज ही से रोब गॉठने वाले डाक्टरो ने जिसे निषिद्ध नही गिना, वह सब करने का हमे स्वत्व है—हम वह जरूर करेगे। पूर्व-परम्परा, उच्च मनोवृत्ति, जिसकी रक्षा और विकास आज तक किया, उस पवित्रता की भावना—शास्त्र—(रूढ़ियो का तो पूछना ही नही) सबको हम धत्ता बता देगे। यह है आज के हमारे समाज-सुधारको की मनोवृत्ति। यह मै नही कहना चाहता कि इनके कार्य-क्रम के सभी विषय त्याज्य है। हाँ, इन सभी की जड़ मे जो वृत्ति है, उसके प्रति मेरा विरोध अवश्य है। अपने सभी सामाजिक व्यवहार मे न्याय और उदारता होनी चाहिये। किसी पर टीका-टिप्पणी करते समय, मनुष्य प्राणी स्खलनशील है, इन्द्रिय-समूह बलवान् है, परिस्थिति के सामने मन का निश्चय स्थिर रहना कठिन है, इन सभी बातो पर ध्यान देकर यदि किसी से कोई भूल हो गई हो, तो उस पर क्रोध और तिरस्कार हमे न करना चाहिए, बल्कि दया, अनुकम्पा और सहानुभूति ही दिखाना चाहिए। जहाँ सामाजिक अन्याय हो रहा हो, वहाॅ अनाथो का रक्षण-पालन करना भी हमारा कर्तव्य है। सामाजिक आदर्श को नीचे गिराना कदापि योग्य नही है। और जो कुछ भी सुधार करे, वह ऐसा हो जिससे सामाजिक न्याय, पवित्रता और सामर्थ्य बढ़े।

भारत की समस्या *

स्वेच्छा ही से वहिष्कृत हो जानेवाले, कुलीन फ्रान्स के ओ चिन्तनशील अतिथे! तुझे हमारा प्रणाम है! मन और वाचा दोनो का तुझ पर आशीर्वाद है। तुझे अपने राष्ट्र का अच्छा परिचय है। इसी कारण तू दुनिया के राष्ट्रो को समझ सकता है। फ्रान्स का भूतकाल, यूरोप की तपश्चर्या, पश्चिम की आकांक्षा तेरे अन्दर जागृत है, इसीलिए तू भविष्य को भी प्रत्यक्ष कर सकता है। पर स्मरण रहे कि भविष्य के भी अनेक अङ्ग हैं। वही शायद सम्पूर्ण भविष्य के दर्शन कर सकता है, जिसने सम्पूर्ण भूत को देख लिया है। सनातन अनन्तता के विस्तार मे भूत और भविष्य एक से ही जीवित हैं—वर्तमान हैं।

हम समझ गये, तू कैसा हिन्दुस्थान चाहता है? हम इस पुण्य अभिलाषा के लिए तेरा अभिनन्दन करते हैं, वन्दना करते है, हम नही मानते कि हम श्रेष्ठ राष्ट्र हैं। पर हमारे स्वदेशी धर्मानुसार हम अपने ही प्रकाश से प्रकाशित होना चाहते हैं। भेद की दिवालो को हम नही चाहते। हमारा प्रकाश, प्रकाश होने से ससार मे सर्वत्र फैलेगा। प्रत्येक राष्ट्र के पास उसका अपना प्रकाश

---

* अहमदावाद महासभा में श्री पाल रिचार्ड के व्याख्यान। (नवीन भारत) का उत्तर।

तो जरूर ही होता है । जहाँ जहाँ से हमारे यहाँ प्रकाश आ रहा हो, उन सभी को हमारा निमन्त्रण है । ईश्वरी प्रकाश तो एक रूप ही होता है, परन्तु प्रत्येक राष्ट्र का प्रकाश तो भिन्नवर्णी होता है। ईश्वरीय योजना की यह एक खूबी है—सुन्दरता है । इसीमें काव्य है ।

हम न किसी की निन्दा करते हैं और न किसी की प्रशंसा। सृष्टि, जड़ और चैतन्य से ही बनी है। हमने सीखा है कि प्रकृति सत्-असत्-आत्मक ही है। जब तक जीव-दशा है, तब तक अवश्य ही दोनों का काम पड़ेगा । जड़ की पूजा करना ही हमारी समझ में जड-वाद है, यह हमारा आशय कदापि नहीं । यूरोप मे सर्वत्र ही जड़-वाद है । परन्तु हमे बुरा सिर्फ यही मालूम होता है कि हमने यूरोप से केवल जड़-वाद ही सीखा । किन्तु यदि हमारे अन्दर भी जड-वाद न होता तो हम गिरते ही नहीं । इसलिए दोष तो हम अपना ही समझते हैं । हम जड़ के वश तो कभी के हो गये थे । किन्तु यूरोप से हम उस जड़ की पूजा भी करना सीख गये, अधःपात ही को उन्नति मानने लग गये, इसी बात पर हमे दुःख होता है ।

हम यह जानते हैं कि आत्मा के मानी हैं—नित्य नूतनता । उस चीज़ को मरना पड़ता है जो नित्य नूतन नहीं होती । जन्म-मरण जितना सत्य है, उतना ही सनातन जीवन भी सत्य है । घास और वनस्पतियाँ ऋतु ऋतु मे मरती हैं और ऋतु ऋतु में संजीवित भी होती हैं । यही है इनका जीवन-धर्म । बरगद और पीपल का जीवन-धर्म भिन्न है। प्रत्येक राष्ट्र बाल्यावस्था में भविष्य की ओर ही देखेगा, यौवन में वर्तमान ही मे गिरफ्तार रहेगा

और वार्धक्य में भूतकाल की ओर ही आँसू भरी दृष्टि फेकेगा; परन्तु जिस राष्ट्र को सनातन होना है, वह तो त्रिकाल-दर्शी ही होता है। उसके भीतर यौवन का उत्साह भले ही न हो, किन्तु उसके भीतर गाम्भीर्य तो भरपूर होगा। उसका स्वभाव धीरोदात्त होगा।

यह सच है कि हमारी समस्या कठिन से कठिन है। विरोधी धर्म और लड़ाके पन्थो का प्रेम-धर्म-सम्मेलन करने का गुरुतर भार हमारे सिर है। यह हमारा विशेष आदेश है, यही हमारा विशेष कार्य है। संसार के भाग्य-विधाता ने इसीलिये हमे एक स्वतन्त्र मन्त्र अर्पण किया है, जिसे हम 'स्वदेशी' के नाम से पहचानते है। वर्ण-व्यवस्था उसीका एक अङ्ग है। यदि संसार मे सब को एक ही ढाँचे मे न ढालना हो, बल्कि यदि जगत् की विविधता मे भी ऐक्य का सम्पादन करना हो, यदि सप्तस्वरो के सङ्गीत की रचना करना हो, यदि सप्त वर्णों का एक सङ्घ बनाना हो तो स्वधर्म-मूलक वर्ण-व्यवस्था ही उसका एक मात्र उपाय है। वर्ण-व्यवस्था भारतवर्ष की खासियत है। यदि उसे हम छोड़ दे तो हम अपने आदेश के प्रति अयोग्य सिद्ध होगे। और ईश्वरीय योजना को निष्फल करेंगे।

हाँ, एक बात सच है कि वर्ण-व्यवस्था को—ईश्वर की चाही वर्ण-व्यवस्था को—हम अङ्गीकार नही कर सके, हमारे अन्दर प्रेम धर्म-पूर्ण कलाओ से प्रकट नही हुआ। इसीसे व्यवस्था में विद्वेष आया, विविधता मे विश्खलितता आई, एकता टूट गई और हम संकुचित बन गये।

विविधता मे ऐक्य, यह ईश्वरीय सन्देश है। हम एकता को

भूले, आप विविधता को सन्देहभरी दृष्टि से देखते हैं, क्या हम दोनों भूलते नहीं हैं ?

आज वर्ण-व्यवस्था में तिरस्कार है, दम्भ है, और अहङ्कार है। हमारे अंदर घुसी हुई अस्पृश्यता उसी का परिणाम स्वरूप है। किन्तु चूँकि हम इस समय अस्पृश्यता को मिटाने की बात कर रहे हैं, तो आप निश्चय समझ ले कि हम तिरस्कार, द्वेष, दम्भ और अहंकार को भी जला देना चाहते हैं। संसार मे श्रेष्ठ और कनिष्ट का भेद तो बनाही रहेगा, परन्तु श्रेष्ठ-कनिष्ट की भावना का रहना अनिष्ट है। पवित्रता वहीं निवास करती है जहाँ नम्रता है, यह हमे जान लेना है। यदि वर्ण-भेद को मिटाने जा रहे हैं, तब धर्म-भेद को हम किस तरह बरदाश्त कर सकेंगे ? यदि ऐसा है तो फिर दया-धर्म को स्थान कहाँ ? और स्वधर्म के मानी क्या होंगे ?

जहाँ आदर्श का भेद हो, वहाँ उच्च-नीच के भेद रही नहीं सकते। पर जहाँ आदर्श-शिखर एक हो और उसके मार्ग पर हम कुछ दूर तक चले गये हो, वहाँ तो जरूर ही उच्च-नीच स्थिति रहेगी ही। किन्तु उसके कारण अहंता या दीनता न उत्पन्न होनी चाहिये। क्या गुरु और शिष्य के बीच उच्च-नीच भाव नहीं हैं ? क्या पापी और पुण्यवान् एक ही भूमिका पर हैं ? जहाँ प्रेम है, वहाँ समता का खयाल ही नहीं होता, क्योंकि प्रेम विषमता को देखता ही नहीं।

हमने जिस तरह घर मे अस्पृश्यता को स्थान दिया, उसी तरह बाह्य जगत् के साथ भी हम अस्पृश्य रहे, यह जरूर हमारा पाप है। समुद्र-यात्रा करके, देश-देशान्तर से व्यापार-व्यवसाय

करके हम उस पाप को नहीं धो सकते। परन्तु हम उसका प्रायश्चित्त ज़रूर कर सकते हैं। और उसका तरीका यह है कि देश-देशान्तर का प्रकाश स्वीकारने के लिये हमारे खिड़की-दरवाजे खुले करदें और तेरे जैसे देश-देशान्तर के सज्जनों को हमारे हृदय में स्थान देकर संसार के दुःख से दुःखी होकर, दुनिया की सेवा के लिये स्वतन्त्र हो जायँ।

हे खुदा-परस्त अतिथे! तुझे वन्दन करते हैं। हमारी संकुचितता को दूर करने का हमें अवसर देने के लिये, तू हमारा यह आतिथ्य स्वीकार कर, और अपने हृदय के भावों को प्रकट कर, हमारे हृदय के भावो को समझ ले और हमें हमारे मार्ग में प्रयाण करने का सहायक हो! हम इतने स्वाश्रयी हो कि अपना मार्ग खुद ही निश्चय कर ले, किन्तु फिर भी ऐसे अहङ्कारी भी नहीं, जो हम तेरे जैसो की सहायता का स्वीकार न करे।

नमस्तेऽस्तु भगवन्नतिथिर्नमस्यः।

आज का स्त्री-धर्म

स्त्री-जाति की उन्नति ही मे सम्पूर्ण समाज की उन्नति है। स्त्री-जाति की उन्नति होते ही गृह-संसार स्वर्गमय वन जाता है। स्त्री-जाति की उन्नति होते ही नवीन पीढ़ी का उत्कर्ष निश्चित समझिये। स्त्री-जाति की उन्नति होते ही सामाजिक जीवन सर्वाङ्ग-पूर्ण हुआ। स्त्री-जाति की उन्नति ही में इस देश का कल्याण भी आ जाता है, क्योकि स्त्री और पुरुष एक ही समाज के दो अङ्ग हैं। दोनो का जीवन मिलकर ही सामाजिक जीवन वनता है। यदि दोनो मे से एक अङ्ग की उपेक्षा की जाय तो समाज को पक्षघात हो जाता है। यदि हमने दोनो अङ्गो को एकसे विकासित किये होते, तो आज स्त्रियो के प्रश्न पर इस तरह जुदी चर्चा करने की जरूरत न उपस्थित होती। आज स्त्री-जाति की उन्नति की चर्चा स्वतन्त्र रूप से करनी पड़ती है। कारण है वर्तमान सामाजिक दुरवस्था। स्त्रियो को समान स्वत्व मिलने के लिये लड़ने की आवश्यकता उत्पन्न होना, इसी वात को सिद्ध करता है कि हमारा सामाजिक और पारिवारिक जीवन गया-वीता हुआ है। गृहजीवन मे तथा समाज में भी प्रेम-मूलक एकता होनी चाहिये। यदि वह होती तो हमें आज न्याय की समता का विचार कभी न करना पड़ता। समता—यह आदर्श न होना चाहिये, वह तो स्वाभाविक परिणाम है। जहाँ प्रेम और एकता है, वहाँ विषमता या विषमता का खयाल भी नहीं होता।

पर आज समाज की दशा विषम है। स्त्रियें पराधीन, आश्रित और अज्ञान दशा में पड़ी हुई हैं। पुरुषों की अपेक्षा अधिक सुधरी हुई होने पर भी, आज स्त्री का जीवन तेजस्वी नहीं है। स्त्री का स्वभाव अधिक कोमल, प्रेमल और अहिंसक है। स्त्रियों ने इन्हीं वृत्तियों का अधिकतर विकास किया है। यदि हिंसा जङ्गलीपन हो और अहिंसावृत्ति सुसंस्कृत अवस्था का लक्षण हो, तो कहना होगा कि स्त्री अधिक संस्कारवती है, अधिक सुधरी हुई है, यही यदि स्वच्छन्द की अपेक्षा संयम-श्रेष्ठ हो तो भी भारतवर्ष में स्त्री का दरजा ही उच्च गिना जाएगा। स्वार्थ को दबाकर परोपकार को प्रधान पद देने में उन्नति हो तो कौटुम्बिक जीवन में स्त्री ही अधिक उन्नत है। स्त्री की बुरी दशा तो उसके परावलम्बन में है। स्त्री के स्वतन्त्र होते ही उसके समस्त सद्गुण और हृदय की उन्नति एकाएक चमकने लग जायगी। मैं नहीं कहना चाहता कि पुरुषों के समान स्त्रियाँ भी आजीविका की चिन्ता में पड़ें। किन्तु आजीविका प्राप्त करने का साधन उनके हाथों में हो तो काफ़ी है। आज यदि पुरुष-वर्ग आजीविका प्राप्त करने की चिन्ता का भार, आर्थिक स्वातन्त्र्य के सुन्दर नाम पर स्त्रियों पर डाल दे तो वह उसको (पुरुष-वर्ग को) शोभा नहीं देगा। मेरा तो यही कहना है कि समाज में पुरुष से स्त्री की सेवा ष्ट है। स्त्री का पद भी श्रेष्ठ होना चाहिये। स्त्री को यह जान लेना चाहिये कि उच्च वृत्ति संपादन कर लेने के कारण समाज का नेतृत्व स्वीकार करने का जो कर्तव्य उसे प्राप्त हुआ है, उसके लिये वह अपने आप को योग्य बना ले।

आज समाज के सम्मुख—संसार के समस्त समाज के

सम्मुख—भारी से भारी प्रश्न आ उपस्थित हुए हैं। सारे संसार मे उथल-पुथल हो गई है। सम्पूर्ण समाज की रचना नये सिरे से करने का प्रसङ्ग उपस्थित हुआ है। पुराने समय मे समाज के सम्मुख केवल पुराना आदर्श ही कायम रखने की चिन्ता रहती थी। उस समय अधिक विचार करने की आवश्यकता ही नहीं थी। जो कुछ था, उसे ही बनाये रखने का आग्रह रखने से सब काम चल जाता था। आज यह स्थिति नहीं रही कि पुराना आदर्श उसी रूप मे बना रहे। उसमे परिवर्तन होना जरूरी है। स्मरण रहे कि उसके समूल नष्ट कर देने से भी काम नहीं चल सकता। जस तरह अमेरिका के निग्रो लोगों ने पूरी श्रद्धा से ख्रिस्ती धर्म अ र अमेरिकन रहन-सहन स्वीकार कर ली, इसी तरह यदि हम भी करना चाहते तो रास्ता सरल था; पर हम देखते हैं कि हमारे लिये यह रास्ता लाभदायक नहीं है। आज सारी दुनिया निराशा मे डूबी हुई है। यह निश्चय नहीं होता है कि कोई भी एक व्यवस्था कल्याण-कारक साबित होगी। यह तो हम देखते है कि हमारी समाज-रचना सफल नहीं हुई। अनुभव कहता है कि यूरोप की समाज-रचना भी कल्याण-कारक नहीं है। हम यह भी देख चुके हैं कि रचना मे या सङ्गठन मे परिवर्तन कर देने मे काम न चलेगा। वल्कि हमें मनुष्य के स्वभाव ही में परिवर्तन करना होगा। अब तक हमारा खयाल था कि न्याय की तराजू पारस्परिक स्वार्थ की विषमता को दूर कर देगी, और दुनिया में शान्ति स्थापित हो सकेगी। अब हम देखते हैं कि धर्म का मूल न्याय नहीं, परन्तु दया है। इस दया के आधार पर, पारस्परिक आदर के आधार पर, समाज की रचना नये सिरे से होनी

चाहिये। हिंसा के जवाब मे प्रतिहिंसा करना न्याय है, यह मान कर अब तक हम हिंसा करते रहे। न्याय का मूल तो हाथ न लगा, परन्तु हिंसा ज़रूर बढ़ गई। अब हिंसा के बदले क्षमा को आजमा लेने को हमारा जी चाहता है, किन्तु इसको आजमायेगा कौन? न्याय का बदला तो वीर ले सकता है, परन्तु क्षमा के लिये तो योद्धा की अपेक्षा भी अधिक उच्च कोटि के वीर की आवश्यकता है। वह वीरता कौन बतला सकता है? जिनके हाथ अभी तक खून से अपवित्र नही हुए , जिन्होने नम्रता ही से अपनी उन्नति को प्राप्त किया है, जिन्होने सेवा-द्वारा ही अपनी स्वार्थ-साधना की है, उस स्त्री-वर्ग ही से हम इस क्षमा-शक्ति की आशा रख सकते हैं। समाज का उद्धार उन्ही के हाथो हो सकता है। अहिंसा-धर्म का ठीक ठीक अर्थ वे ही समझ सकती हैं, वे ही उसका पालन और प्रचार भी कर सकती हैं। अहिंसा-धर्म को धारण करने के लिए, जिस श्रद्धा की ज़रूरत होती है, वह तो स्त्रियो मे है, किन्तु उसके लिये आवश्यक ज्ञान उन्हे अभी सीखना है। स्त्रियो मे अहिंसा है, किन्तु वह तभी दिव्य प्रकार से चमकने लगेगी, जब उनमे निर्भयता और स्वाश्रय भी आ मिलेगा। वे इस भ्रम को छोड़े कि वे अबला हैं। समाज के सम्मुख उपस्थित सभी प्रश्नो का उत्तर देने के लिये वे तैयार हो जाएँ।

धर्म-संस्कार का प्रश्न सब से भारी है। अभी तक हम यही मानते आए हैं कि धर्म को ताक मे रख कर उच्च स्वार्थ और दूर-देशी के नियमो ही से समाज का गाड़ा चल जायगा। किन्तु अब यह भ्रम दूर हो गया है। अब तो हमे निश्चय हो गया है कि यदि समाज का उद्धार होगा तो सिर्फ धर्म ही से हो सकता है।

परन्तु समाज के सम्मुख आज धर्म का शुद्ध स्वरूप नहीं है। स्त्रियों के लिये तो कितने ही पुराने सस्कार और तरह तरह के वहम ही धर्म वन वैठे हैं। वास्तव मे वह धर्म ही नहीं, जिससे सहिष्णुता, उदारता और भ्रातृ-भाव उत्पन्न न हो। धर्म से विरोध मिट जाता है। मेरा यह निश्चित मत है कि वह धर्म ही नहीं, जिसके नाम पर विरोध उत्पन्न होता है। प्रत्येक धर्म मे शुद्ध तत्व तो जरूर होते हैं, परन्तु साथ ही उसमे कई अशुद्धियाँ भी घुस जाती हैं। उसे निकाल डालने के लिए सर्वदा धर्म-संस्कार की आवश्यकता है। यह धर्म-संस्कार तर्क-वुद्धि से नहीं, परन्तु शुद्ध हृदय से होना चाहिए।

यदि धर्म-संस्कार हो जाय तो समाजिक रिवाज और रूढ़ियो मे सुधार करना हमारे लिए कठिन न होगा। सामाजिक दोषों को दूर करने की अपेक्षा श्रेयस्कर यही है कि हम ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दे जिससे वे दोष उत्पन्न ही न हो सके। सामाजिक अत्याचार धर्म-वृत्ति के द्वारा ही टाले जा सकते हैं। यह धर्म-वृत्ति हर एक युग मे उत्पन्न होनेवाले साधु-सन्त हमें वतला देते हैं, पर उसको स्वीकार कर, उसके प्रचार करने का काम तो स्त्रियाँ ही कर सकती हैं, क्योंकि वे हर एक वस्तु को मस्तिष्क की नहीं, किन्तु हृदय की दृष्टि से देख सकती हैं। इसलिए आज हिन्दुस्थान में जिस अहिंसा-धर्म का उदय हुआ है, उसका स्वीकार और प्रचार करने का उत्तरदायित्व स्त्रियों ही पर है। और अभी तक अपने जीवन मे उन्होने इस योग्यता को प्राप्त कर उसका विकास भी किया है। आज भी स्त्रियाँ उसी काम मे सम्पूर्ण शक्ति लगा दें, यही मेरी प्रार्थना है।

प्रतिष्ठा की अस्पृश्यता

हवा सर्वत्र चलती है, सभी को छूती है और संसार की एकरूपता को सिद्ध करती है। स्वर्ग के देवता और कब्र के मुरदे हवा का त्याग कर सकते है। दोनो अस्पृश्य हैं। ईश्वर की इच्छा है कि पृथ्वी तो पृथ्वी ही बनी रहे। परन्तु कई मनुष्य अपने एकरंगी विचार के प्रवाह मे बह कर इस भूलोक पर स्वर्ग और नरक की सृष्टि खड़ी करना चाहते हैं। मुरदा सड़ता है, मुरदे मे प्राण नही होता, मुरदा पृथ्वी के लिए भार रूप है, इसलिए उसे कोई छूता भी नही, इतना ही नही, वल्कि उसे या तो दफना कर या आग से जलाकर लोग उसे नष्ट कर देते है। देवता हमे छूते नही, परन्तु वे इस भूलोक पर विचरते भी तो नही। जब उन्हे विचरना होता है, तव वे मानवरूप धारण कर लेते है, वे मनुष्यो के से व्यवहार करते हैं, तभी वे मनुष्यों मे मिलते-जुलते हैं। जब वे (देवता) ऐसा करने से इन्कार करते हैं, तब उन्हे पत्थर बनकर बन्दीवास भोगना पड़ता है।

हमारे समाज मे इसी तरह के दो अस्पृश्य वर्ग देखने मे आते हैं। एक अन्त्यजो का और दूसरा अग्रजो का। ढेड, मेहतर अस्पृश्य हैं, उसी प्रकार शङ्कराचाय भी अस्पृश्य है। हम दोनो की श्रेणियो मे बैठ कर भोजन नही करते। हम दोनो से हाथ भर दूर रहते है। दोनों को वेद का अधिकार नही और इस लिए

दोनों को समाज मे स्थान भी नहीं है। समाज में उनकी स्थिति ख़तरनाक है। यदि उन्हे समाज मे शामिल करना हो तो पहले उनकी इस अस्पृश्यता को दूर करना ज़रूरी है। यदि अन्त्यजों को समाज मे अस्पृश्य ही बनाये रक्खेंगे तो सामाजिक दुर्गन्धि बढ़ेगी। उसे दूर करने के दो ही उपाय हैं। या तो हिन्दू-समाज से उनको निकाल दिया जाय, या उन्हे स्पृश्य बना लिया जाय। ब्राह्मण-संस्कृति के प्रतिनिधि शङ्कराचार्यों को भी चाहिए कि वे मनुष्य की तरह समाज में विचरें, समाज की स्थिति पर विचार करे और धर्मोपदेश-द्वारा समाज की सेवा करें। यदि वे ऐसा न करते हो तो उन्हे चाहिए कि वे लोगों की सेवा, पूजा मात्र का स्वीकार करने वाली जडमूक मूर्ति बन जाएँ। नैपाल मे राजा को इतना महत्व दिया गया है कि कोई भी व्यावहारिक कार्य राजा के योग्य नहीं गिना जाता। प्रजा-पालन, शत्रु-दमन, मन्त्री तथा राजकर्मचारियो पर देख-रेख, नियम बनाना, किसी को दण्ड देना, या क्षमा-प्रदान करना—इत्यादि कामो में से एक भी काम यदि राजा स्वयं कर डाले, तो उसकी प्रतिष्ठा की महान् हानि होती है। काम-काज प्रधान करता है, राजा केवल नाम मात्र का होता है। यह तो प्रजा ही जाने कि ऐसे अस्पृश्य राजा का उसे क्या उपयोग होता होगा। नेपाल के राजा का सम्मान चाहे कितना ही हो, समाज के हिसाब से तो वह एक अहेतुक निरुपयोगी प्राणी है, क्योंकि वह अस्पृश्य है। वेद-विद्या को भी हमने इसी तरह बना रक्खा है। वेद इतने पवित्र हैं कि उनका अर्थ तक नहीं किया जा सकता! सस्कृत-भाषा की भी यही दशा हुई है। संस्कृत

तो ठहरी देवताओ की वाणी, मनुष्य उसका व्यवहार कैसे कर सकते हैं ? फलतः इसे जड़, निर्जीव, वीतप्राण ही हो जाना पड़ा। इस प्रतिष्ठा की अस्पृश्यता से देव-वाणी को और भूदेवो के समुदाय को कौन उबारेगा ? जब शरीर के पैर और सिर भी समाज-सेवा के लिए अयोग्य हो जायँ, तब मनुष्य को पेट ही से विचार करना भी पड़े और चलना पड़े तो आश्चर्य ही क्या ?

समाज को पंगु न बनाना हो तो शङ्कराचार्यों को और नैपाल नरेश जैसे राजाओ को अपनी अस्पृश्यता को त्याग कर आज समाज मे सम्मिलित होना चाहिए। और अन्त्यजो का अस्पृश्यता को दूर कर उन्हे भी शामिल कर देना चाहिए। ऐसा करने ही से धार्मिक अन्धकार नष्ट होगा। और हिन्दू-धर्म के सिर का काला धब्बा धुल जायगा, केवल दिन दहाड़े मशाले जलाकर जुलूस निकालने से क्या होना जाना है ?

लागत मूल्य पर हिन्दी पुस्तकें प्रकाशित करनेवाली
एक मात्र सार्वजनिक संस्था

सस्ता-साहित्य-प्रकाशक मण्डल, अजमेर

उद्देश्य—हिंदी-साहित्य-संसार में उच्च और शुद्ध साहित्य के प्रचार के उद्देश्य से इस मण्डल का जन्म हुआ है। विविध विषयों पर सवसाधारण और शिक्षित-समुदाय, स्त्री और बालक सबके लिए उपयोगी, अच्छी और सस्ती पुस्तकें इस मण्डल के द्वारा प्रकाशित होंगी।

विषय—धर्म (रामायण, महाभारत, दर्शन, वेदान्तादि) राजनीति, विज्ञान, कलाकौशल, शिल्प, स्वास्थ्य, समाजशास्त्र, इतिहास, शिक्षाप्रद उपन्यास, नाटक, जीवनचरित्र, स्त्रियोपयोगी और बालोपयोगी आदि विषयों की पुस्तकें तथा स्वामी रामतीर्थ, विवेकानन्द, टाल्सटाय, तुलसीदास, सूरदास, कबीर, बिहारी, भूषण आदि की रचनाएँ प्रकाशित होंगी।

इस मण्डल के सदुद्देश्य, महत्त्व और भविष्य का अन्दाज पाठकों को होने के लिए हम सिर्फ़ उसके संस्थापकों के नाम यहाँ दे देते हैं—

मंडल के संस्थापक—(१) सेठ जमनालालजी बजाज, वर्धा (२) सेठ घनश्यामदासजी बिड़ला कलकत्ता (सभापति) (३) स्वामी आनन्दानंदजी (४) बाबू महावीर प्रसादजी पोद्दार (५) डा० अम्बालालजी दधीच (६) पं० हरिभाऊ उपाध्याय (७) श्री जीतमल लूणिया, अजमेर (मन्त्री)

पुस्तकों का मूल्य—लगभग लागतमात्र रहेगा। अर्थात् बाजार में जिन पुस्तकों का मूल्य व्यापाराना ढंग से १) रखा जाता है उनका मूल्य हमारे यहाँ केवल ।=) या ।≡) रहेगा। इस तरह से हमारे यहाँ १) में ५०० से ६०० पृष्ठ तक की पुस्तकें तो अवश्य ही दी जावेंगी। सचित्र पुस्तकों में खर्च अधिक होने से मूल्य अधिक रहेगा। यह मूल्य स्थायी ग्राहकों के लिए है। सर्व साधारण के लिये थोड़ा सा मूल्य अधिक रहेगा।

हिन्दी-प्रेमियों का स्पष्ट कर्तव्य

यदि आप चाहते हैं कि हिंदी का—यह 'सस्ता मण्डल' फले-फूले तो आपका कर्तव्य है कि आजही न केवल आपही इसके ग्राहक बनें, बल्कि अपने परिचित मित्रों को भी बनाकर इसकी सहायता करें।

हमारे यहाँ से निकलनेवाली दो मालाएँ और
स्थायी ग्राहक होने के दो नियम
खूब ध्यान से सब नियमों को पढ़ लीजिये

(१) हमारे यहाँ से 'सस्ती विविध पुस्तक-माला' नामक माला निकलती है जिसमें वर्ष भर में ३२०० पृष्ठों की कोई अठारह बीस पुस्तकें निकलती हैं और वार्षिक मूल्य पोस्ट खर्च सहित केवल ८) है। अर्थात् छः रुपया ३२०० पृष्ठो का मूल्य और २) डाकखर्च। इस विविध पुस्तक-माला के दो विभाग हैं। एक 'सस्ती-साहित्य-माला' और दूसरी-'सस्ती-प्रकीर्ण पुस्तकमाला'। दो विभाग इसलिये कर दिये गये हैं कि जो सज्जन वर्ष भर में आठ रुपया खर्च न कर सकें, वे एक ही माला के ग्राहक बन जावें। प्रत्येक माला में १६०० पृष्ठों की पुस्तकें निकलती हैं और पोस्ट खर्च सहित ४) वार्षिक मूल्य है। माला से ज्यों ज्यों पुस्तकें निकलती जावेंगी, वैसे वैसे पुस्तकें वार्षिक ग्राहकों के पास मण्डल अपना पोस्टेज लगाकर पहुँचाता जायगा। जब १६०० या ३२०० पृष्ठों की पुस्तकें ग्राहकों के पास पहुँच जावेंगी, तब उनका वार्षिक मूल्य समाप्त हो जायगा।

(२) वार्षिक ग्राहकों को उस वर्ष की-जिस वर्ष में वे ग्राहक बन-सब पुस्तकें लेनी होती हैं। यदि उन्होंने उस वर्ष की कुछ पुस्तकें पहले से ले रखी हों तो अगले वर्ष की ग्राहक-श्रेणी का पूरा रुपया यानि ४) या ८) दे देने पर या कम से कम १) या २) जमा करा देने तथा अगला वर्ष शुरू होने पर शेष मूल्य भेज देने का वचन देने पर, पिछले वर्षों की पुस्तके जो वे चाहे, एक एक कापी लागत मूल्य पर ले सकते हैं।

(३) दूसरा नियम—प्रत्येक माला की आठ आना प्रवेश फ़ीस या दोनों मालाओं की १) प्रवेश फीस देकर भी आप ग्राहक बन सकते हैं। इस तरह जैसे जैसे पुस्तके निकलती जावगी, उनका लागत मूल्य और पोस्ट खर्च जोड़ कर वी पी. से भेज दी जाया करेंगी। प्रत्येक वी.पी में =) रजिस्ट्री खर्च व =) वी. पी. खर्च तथा पोस्टेज खर्च अलग लगता है। इस तरह वर्ष भर में प्रवेश फीसवाले ग्राहकों को प्रति माला पीछे क़रीब ढाई रुपया पोस्टेज पड़ जाता है। वार्षिक ग्राहकों को केवल १) हा पोस्ट खर्च लगता है।

हमारी सलाह है कि आप वार्षिक ग्राहक ही बनें

क्योंकि इससे आपको पोस्ट खर्च में भी क़िफ़ायत रहेगी और प्रवेश फीस के ॥) या १) भी आपसे नही लिये जावेंगे।

(४) दोनों तरह के ग्राहकों को—एक एक कापी ही लागत मूल्य पर मिलती है। अधिक प्रतियाँ मँगाने पर सर्वसाधारण के मूल्य पर दो आना रुपया कमीशन काट कर भेजी जाती हैं। हाँ, बीस रुपये से ऊपर की पुस्तकें मँगाने पर २५) सैंकड़ा कमीशन काट कर भेजी जा सकती हैं। किसी एक माला के ग्राहक होने पर यदि वे दूसरी माला की पुस्तकें या मंडल से निकलने वाली फुटकर पुस्तकें मँगावेंगे तो दो आना रुपया कमीशन काट कर भेजी जावेंगी। पर अपना ग्राहक नंबर ज़रूर लिखना चाहिये।

(५) दोनों मालाओं का वर्ष—सस्ता साहित्य-माला का वर्ष जनवरी मास से शुरू होकर दिसम्बर मास में समाप्त होता है और प्रकीर्ण-माला का वर्ष अप्रेल मास से शुरू होकर दूसरे वर्ष के अप्रेल मास में समाप्त होता है। मालाओं की पुस्तकें दूसरे तीसरे महीने इकट्ठी निकलती हैं और तब ग्राहकों के पास भेज दी जाती हैं। इस तरह वर्ष भर में कुल १६०० या ३२०० पृष्ठों की पुस्तकें ग्राहकों के पास पहुँचा दी जाती हैं।

(६) जो वार्षिक ग्राहक माला की सब पुस्तकें सजिल्द मँगाना चाहें, उन्हें प्रत्येक माला के पीछे दो रुपया अधिक भेजना चाहिये, अर्थात् साहित्य माला के ६) वार्षिक और इसी तरह प्रकीर्ण माला के ६) वार्षिक भेजना चाहिये।

हमारे यहाँ से निकलनेवाली फुटकर पुस्तकें

उपरोक्त दोनों मालाओं के अतिरिक्त अन्य पुस्तकें भी हमारे यहाँ से निकलती हैं। परन्तु जैसे दोनों मालाओं में वर्ष भर में ३२०० पृष्ठों की पुस्तकें निकालने का निश्चित नियम है वैसा इनका कोई खास नियम नहीं है। सुविधा और आवश्यकतानुसार पुस्तकें निकलती हैं।

स्थाई ग्राहकों के जानने योग्य बातें

(१) जो ग्राहक जिस माला के ग्राहक बनते हैं, उन्हें उसी माला की एक एक पुस्तक लागत मूल्य पर मिल सकती है। अन्य पुस्तकें मँगाने के लिये उन्हें आर्डर भेजना चाहिये। जिन पर उपरोक्त नियमानुसार कमीशन काट कर वी० पी० द्वारा पुस्तकें भेज दी जावेंगी।

(२) ग्राहकों को पत्र देते समय अपना ग्राहक नम्बर ज़रूर लिखना चाहिये। इसमें भूल न रहे।

(३) मंडल से निकलने वाली फुटकर पुस्तकों के भी यदि आप स्थाई ग्राहक बनना चाहें तो ।।) प्रवेश फ़ीस भेज कर बन सकते हैं। जब जब पुस्तकें निकलेंगी उनको लागत मूल्य से वी० पी० करके भेज दी जावेंगी।

सस्ती-साहित्य-माला की पुस्तकें (प्रथम वर्ष)

दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह—प्रथम भाग (ले०—महात्मा गांधी)

(१) पृष्ठ सं० २७२, मूल्य स्थायी ग्राहकों से ।≤) सर्वसाधारण से ।।।)

म० गांधीजी लिखते हैं—"बहुत समय से मैं सोच रहा था कि इस सत्याग्रह-संग्राम का इतिहास लिखूँ, क्योंकि इसका कितना ही अंश मैं ही लिख सकता हूँ। कौनसी बात किस हेतु से की गई है, यह तो युद्ध का सचालक ही जान सकता है। सत्याग्रह के सिद्धात का सच्चा ज्ञान लोगों में हो, इसलिये यह पुस्तक लिखी गई है।" सरस्वती, कर्मवीर, प्रताप आदि पत्रों ने इस पुस्तक के दिव्य विचारों की प्रशंसा की है।

(२) शिवाजी की योग्यता—(ले० गोपाल दामोदर तामस्कर एम० ए०, एल० टी०) पृष्ठ-संख्या ११२, मूल्य स्थायी ग्राहकों से केवल ।) सर्वसाधारण से ।=) प्रत्येक इतिहास प्रेमी को इसे पढ़ना चाहिए।

(३) दिव्य जीवन—अर्थात् उत्तम विचारों का जीवन पर प्रभाव। संसार प्रसिद्ध स्विट् मार्सडन के The Miracles of Right Thoughts का हिंदी अनुवाद। पृष्ठ संख्या १२६, मूल्य स्थायी ग्राहकों से ।) सर्व साधारण से ।=) चौथी बार छपी है।

(४) भारत के स्त्री-रत्न—(पाँच भाग) इस ग्रंथ में वैदिक काल से लगाकर आजतक की प्रायः सब धर्मों की आदर्श, पातिव्रत्य-परायण, विद्वान् और भक्त कोई ५०० स्त्रियों का जीवन-वृत्तान्त होगा। हिंदी में इतना बड़ा ग्रन्थ आज तक नहीं निकला। प्रथम भाग पृष्ठ ४१० मूल्य स्थायी ग्राहकों से केवल ।।।) सर्वसाधारण से १) आगे के भाग शीघ्र छपेंगे।

(५) व्यावहारिक सभ्यता—यह पुस्तक बालक, वायु, पुरुष, स्त्री

सभी को उपयोगी है, परस्पर बड़ों व छोटों के प्रति तथा संसार में किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए, ऐसे ही अनेक उपयोगी उपदेश भरे हुए हैं। पृष्ठ १०८, मूल्य स्थायी ग्राहकों से ≡) सर्वसाधारण से ।)॥ दूसरी बार छपी है

(६) आत्मोपदेश—(यूनान के प्रसिद्ध तत्त्वज्ञानी महात्मा एपिक्टेटस के विचार) पृष्ठ १०४, मूल्य स्थायी ग्राहकों से ≡) सर्वसाधारण से ।)

(७) क्या करें ?—(ले०—महात्मा टाल्सटाय) इसमें मनुष्य जाति के सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक प्रश्नों पर बहुत ही सुंदर और मार्मिक विवेचन किया गया है। महात्मा गांधी जी लिखते हैं— "इस पुस्तक ने मेरे मन पर बड़ी गहरी छाप डाली है। विश्व-प्रेम मनुष्य को कहाँ तक ले जा सकता है, यह मैं अधिकाधिक समझने लगा" प्रथम भाग पृष्ठ २१६ मूल्य केवल ॥=) स्थाई ग्राहकों से ।≡) दूसरा भाग भी छप रहा है इसका मूल्य भी लगभग यही रहेगा।

(८) कलवार की करतूत—(ले०—महात्मा टाल्सटाय) इस नाटक में शराब पीने के दुष्परिणाम बड़ी सुंदर रीति से दिखलाये गये हैं। पृष्ठ ४० मूल्य -)॥ स्थाई ग्राहकों से -)॥

(९) जीवन-साहित्य—म० गांधी के सत्याग्रह आश्रम के प्रसिद्ध विचारक और लेखक काका कालेलकर के धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक विषयों पर मौलिक और मननीय लेख—प्रथम भाग पृष्ठ २१८ मूल्य ॥) स्थाई ग्राहकों से ।=) इसका दूसरा भाग भी छप रहा है।

इस प्रकार उपरोक्त नौ पुस्तकें १६८६ पृष्ठों की इस माला के प्रथम वर्ष में प्रकाशित हुई हैं अब दूसरे वर्ष अर्थात् सन् १९२७ में जो जो पुस्तकें प्रकाशित होंगी उनका नोटिस कवर के चौथे पृष्ठ पर छपा है।

सस्ती-प्रकीर्ण माला की पुस्तकें (प्रथम वर्ष)

(१) कर्मयोग—(ले० अध्यात्म योगी श्री अश्विनीकुमार दत्त। इसमें निष्काम कर्म किस प्रकार किये जाते हैं—सच्चा कर्मवीर किसे कहते हैं— आदि बातें बड़ी खूबी से बताई गई हैं। पृष्ठ सं० १५२, मूल्य केवल ।=) स्थायी ग्राहकों से ।)

(२) सीताजी की अग्नि-परीक्षा—सीता जी की 'अग्नि-परीक्षा'

इतिहास से, विज्ञान से तथा अनेक विदेशी उदाहरणों द्वारा सिद्ध की गई है। पृष्ठ सं० १२४, मूल्य ।~) स्थायी ग्राहकों से ≡)॥

(३) कन्या-शिक्षा—सास, ससुर आदि कुटुंबी के साथ किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिये, वर की व्यवस्था कैसी करनी चाहिये आदि बातें, कथा-रूप में बतलाई गई हैं। पृष्ठ सं० ९४, मूल्य केवल ।) स्थायी ग्राहकों से ≡)

(४) यथार्थ आदर्श जीवन—हमारा प्राचीन जीवन कैसा उच्च था, पर अब पाश्चात्य आडम्बरमय जीवन की नक़ल कर हमारी अवस्था कैसी शोचनीय हो गई है। अब हम फिर किस प्रकार उच्च बन सकते हैं—आदि बातें इस पुस्तक में बताई गई हैं। पृष्ठ सं० २६४, मूल्य केवल ॥~) स्थायी ग्राहकों से ।=)॥

(५) स्वाधीनता के सिद्धान्त—प्रसिद्ध आयरिश वीर टैरेंस मेक्स-वीनी की Principles of Freedom का अनुवाद—प्रत्येक स्वतंत्रता-प्रेमी को इसे पढ़ना चाहिये। पष्ठ सं० २०८ मूल्य ॥), स्थायी ग्राहकों से ।~)॥

(६) तरंगित हृदय—(ले० पं० देवशर्मा विद्यालंकार) भू० ले० पद्म सिंहजी शर्मा—इसमें अनेक ग्रन्थों को मनन करके एकांत हृदय के सामाजिक, आध्यात्मिक और राजनैतिक विषयों पर बड़े ही सुन्दर, हृदयस्पर्शी मौलिक विचार लिखे गये हैं। किसी का अनुवाद नहीं है। पृष्ठ सं० १७६, मूल्य ।≡) स्थायी ग्राहकों से ।~)

(७) गंगा गोविंदसिंह—(ले० बंगाल के प्रसिद्ध लेखक श्री चण्डीचरण सेन) इस उपन्यास में ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन काल में भारत के लोगों पर अँग्रेजों ने कैसे कैसे भीषण अत्याचार किये और यहाँ का व्यापार नष्ट किया उसका रोमांचकारी वर्णन तथा कुछ देश-भक्तों ने किस प्रकार मुसीबतें सहकर इनका मुकाबला किया उसका गौरव-पूर्ण इतिहास वर्णित है। रोचक इतना है कि शुरू करने पर समाप्त किये बिना नहीं रहा जा सकता। पृष्ठ २९६ मूल्य केवल ॥=) स्थायी ग्राहकों से ।≡)॥

(८) यूरोप का इतिहास—(प्रथम भाग) छप रहा है। पृष्ठ लगभग ३५० मार्च सन् १९२७ तक छप जायगा। इस माला में एकाध पुस्तक और निकलेगी तब वर्ष समाप्त हो जायगा।

☞ हमारे यहाँ हिंदी की सब प्रकार की उत्तम पुस्तकें भी मिलती हैं—बड़ा सूचीपत्र मँगाकर देखिये!

पता—सस्ता-साहित्य-प्रकाशक मण्डल, अजमेर।

यह प्रार्थना उन्हीं से है जिन्हें अपनी मातृभाषा से प्रेम हो

हिन्दी भाषा की अपील

भारतवर्ष की राष्ट्र-भाषा हिन्दी के प्रचार के लिये एक ऐसी सार्वजनिक संस्था की परमावश्यकता थी जो शुद्ध सेवा भाव से बिना किसी प्रकार के लाभ की इच्छा रखते हुए हिन्दी में उत्तमोत्तम पुस्तकें बहुत ही स्वल्प मूल्य में निकाले। इसी उद्देश्य को पूरा करने के लिये यह सस्ता मंडल स्थापित हुआ है। अभी तक जो **पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं वे कितनी उत्तम और साथ ही कितनी सस्ती हैं यह साथवाले नोटिस से आपको मालूम हो जायगा।**

मंडल का आदर्श

अभी हमने १) में ५०० से ६०० पृष्ठों तक की पुस्तकें स्थाई ग्राहकों को देना निश्चय किया है। पर हमारा आदर्श है कि १) में ८००) से १००० पृष्ठों तक की पुस्तकें हम निकाल सकें। यदि यह दिन आगया जो कि अवश्य आवेगा तो हिन्दी भाषा की बड़ी सेवा हो सकेगी।

मण्डल के लाभ और हानि का सवाल

मण्डल सिर्फ इतना ही चाहता है कि उसके काम करनेवाले कार्य्यकर्त्ताओं का वेतन निकल आवे और वह इस तरह स्वावलम्बी होकर चिरकाल तक हिन्दी की सेवा कर सके, बस यही उसका स्वार्थ है। अभी जो १) में ५०० से ६०० पृष्ठों तक की पुस्तकें देने का निश्चय किया है उसमें जबतक **चार हजार ग्राहक न बन जावें तबतक मण्डल को बराबर हानि होती रहेगी।** इतने ग्राहक हो जाने पर १) में उपरोक्त पृष्ठों की पुस्तकें देने से मण्डल को हानि न उठानी पड़ेगी। **ज्योंही चार हजार से ऊपर ग्राहक बढ़ने लगे वैसे ही पृष्ठ संख्या भी बढ़ने लगेगी।**

मण्डल के जीवन का आधार

इसके स्थाई ग्राहक हैं—गुजरात जैसे छोटे से प्रांत में वहां के सस्तुं-साहित्य कार्य्यालय के सात हजार स्थाई ग्राहक हैं। इसीलिये आज उस संस्था से कई उत्तम ग्रन्थ स्वल्प मूल्य में निकल गये हैं। उस हिसाब से हिन्दी में तो बीसियों हजार ग्राहक हो जाना चाहिये।

(पीछे देखिये)

आपसे विनीत प्रार्थना

जब कि हम स्थाई ग्राहकों को लागत मूल्य में पुस्तकें दे रहे हैं ऐसी अवस्था में क्या हम यह आशा नहीं कर सकते कि आप इसके स्थाई ग्राहक बनकर इस सेवा के कार्य्य में हमारा हाथ बटावेंगे। आपको तो यह लाभ होगा कि कुछ वर्षों में ही आपके घर में उत्तम चुनी हुई सब विषयों की पुस्तकों का बहुत ही कम कीमत में पुस्तकालय हो जायगा और हमें आपके ग्राहक बनने से बड़ी मदद मिलेगी। **दोनों मालाओं का पोस्टेज सहित कुल ८) वार्षिक है जिसमें कि ३२०० पृष्ठों की कोई अठारह बीस पुस्तकें घर बैठे आपको मिल जावेंगी।** आशा है आप हमारी इस उचित प्रार्थना को योंही नहीं टाल देंगे।

अन्तिम निवेदन

(१) यदि किसी कारण से आप ग्राहक न बन सकें तो कम से कम एक दो ग्राहक बनाकर ही आप हमारी सहायता कर सकते हैं। आपके मित्रों या सम्बन्धियों आदि में एक दो को तो आग्रह करके आप जरूर ही ग्राहक बना सकेंगे। यह तो निश्चय बात है। सिर्फ आपके हृदय में हिन्दी के लिये सच्चा प्रेम होना चाहिये।

लोगों की उदासीन वृत्ति

जब हम, लोगों के पास अपने विज्ञापन भेजते हैं तो बहुत कम लोग उन पर ध्यान देकर ग्राहक बनते हैं पर जब हम उनके घर पर सामने चले जाते हैं तो वे जरूर ग्राहक बन जाते हैं यह हमारा खुद का अनुभव है। इसका कारण केवल उनका आलस्य या उदासीन वृत्ति है। घर घर जाने में कितना रुपया और कितनी शक्ति खर्च होती है यह आप अनुमान कर सकते हैं। आप यदि इस ओर ध्यान दें और सहायता के भाव से प्रेरित हों तो मण्डल की यह शक्ति और द्रव्य बच कर हिन्दी की अधिक सेवा में लग सकता है।

आशा है आप हमारी अपील को व्यर्थ न फेंक देंगे और ऐसा समझ कर कि हम आपके सामने ही अपील कर रहे हैं, कम से कम एक वर्ष के लिये जरूर ग्राहक बनेंगे।

विनीत—जीतमल लूणिया, मन्त्री,

सस्ता साहित्य-प्रकाशक मंडल, अजमेर